मुद्रक—
कपूरचन्द जैन
महावीर प्रेस, आगरा।

आवृत्ति दूसरी
१६४८

मूल्य १।।)

निवेदन

—❀❀—
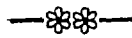
पाठक यह दूसरे कर्म-ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मूल तथा छाया सहित आपकी सेवा मे उपस्थित किया जाता है प्रथम कर्मग्रन्थ के ज्ञान करलेने के अनन्तर दूसरे कर्मग्रन्थ का अध्ययन परमावश्क है। क्यों कि विना इसके पढ़े तीसरा आदि अगले कर्मग्रन्थों में तथा कम्मपयडी, पञ्चसंग्रह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। इसलिये इस कर्मग्रन्थ का भी महत्व बहुत अधिक है। यद्यपि इस कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ सिर्फ चौतीस ही है तथापि इतने में प्रचुर विषय का समावेश ग्रन्थकार ने किया है। अतएव परिणाम में ग्रंथ वड़ा न होने पर भी विषय में वहुत गम्भीर तथा विचारणीय है।

इस अनुवाद के आरम्भ में एक प्रस्तावना दी हुई है जिस मे दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य, विषयवर्णन-शैली, विषय विभाग, 'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय इत्यादि विषय, जिनका सम्बन्ध दूसरे कर्मग्रन्थ से है, उन पर थोड़ा, पर आवश्यक विचार किया गया है पीछे गुणस्थान के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे संक्षिप्त विचार प्रकट किये गये हैं वाद विषय-सूची दी गई है, जिससे ग्रन्थ के विषय, गाथा और पृष्ठवार

मालूम हो सकते हैं। अनन्तर शुद्धिपत्र है तत्पश्चात् मूल, छाया, हिन्दी अर्थ तथा भावार्थ सहित 'कर्मस्तव' नामक दूसरा कर्मग्रन्थ है इसमें योग्य स्थानों मे यन्त्र-नकशे भी दिये गये हैं। इसके बाद एक परिशिष्ट है जिसमें श्वेताम्बरीय, दिगम्बरीय साहित्य की कुछ समान तथा असमान बातें उल्लिखित की गई हैं इस द्वितीय संस्करण का शुद्धि-पत्रक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जैनदर्शनाध्यापक श्रीयुत दलसुख भाई मालवानीद्वारा तैयार किया गया है। एतदर्थ मण्डल उनका हृदय से आभारी है।

पाठक वृन्द ! आपसे निवेदक पुन. पुनः करबद्ध क्षमाप्रार्थी है। कारण कि यह दूसरे कर्मग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति है। प्रथमावृत्ति की अपेक्षा द्वितीयावृत्ति विपेश परिवर्तनों के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत की जानी चाहिये थी; किन्तु ऐसा न हो सका कारण साधन और समयाभाव। आज युद्धकालीन परिस्थितियों में अनेक कठिनाइया ,उठाने के बाद उपयुक्त साधनों के न होने से हम जैसा इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना चाहते थे; न कर सके। बल्कि ज्यों के त्यों प्रकाशित करने में अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं पाठक वृन्द कृपया शुद्धिपत्र से सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। तृतीयावृत्ति के समय इसकी त्रुटियों को दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न किया जायगा।

निवेदक—

मन्त्री—जवाहरलाल नाहटा, दयालचन्द्र चौरड़िया।

प्रस्तावना
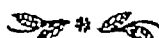
ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ मे कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियो का वर्णन किया गया है। उसमें बन्ध योग्य, उदय-उदीरणा-योग्य और सत्तायोग्य प्रकृतियो की जुदी-जुदी संख्या भी दिखलाई गई है। अब उन प्रकृतियो के बन्ध की उदय-उदीरणा की और सत्ता को योग्यता को दिखाने की आवश्यकता है। सो इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है।

विषय-वर्णन-शैली

ससारी जीव गिनती मे अनन्त हैं। इसलिए उनमें से एक-एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सब की बन्धादि सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाना असम्भव है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति मे बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता भी सदा एकसी नहीं रहती, क्योकि परिणाम व विचार के बदलते रहने के कारण बन्धादि-विषयक योग्यता भी प्रतिसमय बदला करती है। अतएव आत्म-दर्शी शास्त्रकारो ने देहधारी जीवो के १४ वर्ग किये हैं यह वर्गी-करण, उनकी आभ्यन्तर शुद्धि की उत्क्रान्ति—अपक्रान्ति के आधार पर किया गया है इसी वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा मे 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम, ऐसा है

कि जिसके १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे कि अनन्त देहधारियों की वन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को १४ विभागों के द्वारा वतलाना सहज हो जाता है और एक जीव-व्यक्ति की योग्यता—जो प्रतिसमय बदला करती है—उसका भी प्रदर्शन किसी न किसी विभाग के द्वारा किया जा सकता है संसार जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव की पूरी वैज्ञानिक जॉच करके गुणस्थानक्रम की घटना की गई है। इससे यह वतलाना या समझना सहज हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतियों के वन्ध का, उदय-उदीरणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है इस कर्मग्रन्थ में उक्त गुणस्थान क्रम से आधार से ही जीवों की वन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को वतलाया है यही इस ग्रन्थ की विषय-वर्णन-शैली है।

विषय-विभाग

इस ग्रन्थ के विषय के मुख्य चार विभाग हैं (१) वन्धाधिकार, (२) उदयाधिकार, (३) उदीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार। वन्धाधिकार मे गुणस्थान-क्रम को लेकर प्रत्येक गुणस्थान वर्ती जीवों की वन्ध-योग्यता को दिखाया है। इसी प्रकार उदयाधिकार में, उनकी उदय-सम्बन्धिनी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा सम्बन्धिनी योग्यता को और सत्ताधिकार मे सत्ता-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाया है। उक्त ४ अधिकारों की घटना, जिस वस्तु पर की गई है, उस वस्तु—गुणस्थान-क्रम—का नाम निर्देश भी ग्रन्थ के आरम्भ मे ही कर दिया गया है। अतएव, इस ग्रन्थ का विषय, पांच भागों मे विभाजित हो गया

है। सबसे पहले, गुणस्थान-क्रम का निर्देश और पीछे क्रमशः पूर्वोक्त चार अधिकारी।

'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय

आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृत्तियों में आत्मा की ओर रहती है। वे, करें कुछ भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किये होते हैं कि जिससे उनके आध्यात्मिक महत्त्वाभिलाषा पर जगत् के आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता। उन लोगों का अटल विश्वास होता है कि 'ठीक-ठीक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विघ्न बाधाओं का शिकार नहीं होता।' यह विश्वास, कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य में भी था। इससे उन्होने ग्रन्थ-रचना-विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नज़र के सामने रखना चाहा। ग्रन्थकार की दृष्टि में आदर्श थे भगवान् महावीर। भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षयरूप असाधारण गुण पर ग्रन्थकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी कृति द्वारा दर्साना चाहा। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ को रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान महावोर की स्तुति के वहाने से की है। इस ग्रन्थ में मुख्य वर्णन, कर्म के वन्धादिका है, पर वह किया गया है स्तुति के वहाने से। अतएव, प्रस्तुत ग्रन्थ का अर्थानुरूप नाम 'कर्मस्तव' रखा गया है।

ग्रन्थ-रचना का आधार

इस ग्रन्थ की रचना 'प्राचीन कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्म ग्रन्थ के आधार पर हुई है। उसका और इसका विषय एक ही

है। भेद इतना ही है कि इसका परिमाण, प्राचीन कर्मग्रन्थ से अल्प है। प्राचीन मे ५५ गाथाएँ हैं, पर इसमें ३४ जो वात प्राचीन मे कुछ विस्तार से कही है उसे इसमे परिमित शब्दो के द्वारा कह दिया है। यद्यपि व्यवहार मे प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम 'कर्मस्तव' है, पर उसके आरम्भ की गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम, 'वन्धोदयसत्त्व युक्तस्तव' है। यथा:—

नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे।
वंधुदयसंतजुत्त वोच्छामि थयं निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से वनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने इस ग्रन्थ के किसी भाग मे उल्लिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तव' नाम होने मे कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि इसी ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ के अन्त मे 'नेयं कम्मत्थय सोउ' इस अंश से उस नाम का कथन कर ही दिया है।

'स्तव' शब्द के पूर्व मे 'वन्धोदयसत्त्व' या 'कर्म' कोई भी शब्द रखा जाय, मतलव एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसीलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्मग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम मे कुछ भी फरक नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेताम्वर—दिगम्वर आचार्यों के ग्रन्थ-रचना-विपयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह वात ध्यान देने योग्य है कि नाम सर्वथा समान होने पर भी गोम्मटसार मे तो 'स्तव' शब्द की व्याख्या विलकुल विलक्षण

है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ मे तथा उसकी टीका मे 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है इससे यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बन्धोदयसत्त्व-युक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का वह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इसमें स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले "श्री गोविन्दाचार्य" हैं जो "श्री देवनाग" के शिष्य थे। श्री गोविन्दाचार्य का समय भी सन्देह की तह मे छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति—जो वि० सं० १२८८ में ताड़पत्र पर लिखी हुई है—मिलती है। इससे यह निश्चित है कि उनका समय, वि० स० १२८८ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाय तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दो सौ वर्ष पहले ही होनी चाहिए। इससे यह हो सकता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार मे लिया गया हो और स्वतन्त्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल बदल दी गई हो। अस्तु, इस विषय मे कुछ भी निश्चित कहना साहस है। यह अनुमान-सृष्टि, वर्तमान लेखकों की शैली का अनुकरण मात्र है। इस नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता श्रीदेवेन्द्रसूरि का समय आदि पहले कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना से जान लेना।

गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का सांकेतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ मे गुणस्थान को लेकर बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया है वैसे ही गोम्मटसार में भी किया है इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्मस्तव' है पर गोम्मटसार के उस प्रकरण का नाम 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त-स्तव' जो "बन्धुदय-सत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं" इस कथन से सिद्ध है (गो. कर्म. गा. ८७) । दोनों नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि कर्मस्तव मे जो 'कर्म' शब्द है उसी की जगह 'बन्धोदय-सत्त्वयुक्त' शब्द रखा गया है। परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों मे समान होने पर भी, उसके अर्थ में बिलकुल भिन्नता है। 'कर्मस्तव' मे 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है पर गोम्मटसार मे 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके खास सांकेतिक अर्थ किया गया है। इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारिभाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होता। जैसे:—

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।
वण्णणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ॥

गो० कर्म० गा० ८८

अर्थात किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला शास्त्र 'स्तव' कहाता है एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्म-कथा कहाता है।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना - सम्बन्धी देश काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप

आत्मा को अवस्था किसी समय अज्ञान-पूर्ण होती है। वह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की वदौलत निकलता है, और धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अन्तिम हद—को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर, विकास की आखरी भूमि को पाना ही आत्म का परम साध्य है। इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणि को 'विकास क्रम' या 'उत्क्रान्ति-मार्ग' कहते हैं, और जैनशास्त्रीय परिभाषा में उसे 'गुणस्थ क्रम' कहते हैं। इस विकास-क्रम के समय होनेवाली आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप, १४ भागों में कर दिया गया है। ये १४ भाग, गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर-साहित्य में 'गुणस्थान' अर्थ में संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास

ईश्वरत्व के दर्शन द्वार कहना चाहिये। और उतनी हद तक पहुँचे हुए आत्मा को अन्तराम कहना चाहिये। इसके विपरीत पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को वहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय वाहरी वस्तुओं मे ही आत्मत्व की भ्रॉति से इधर-उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शनमोह तथा अनन्तानुवन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति आवरण-भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्यानावरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पांचवीं भूमिका में चारित्र शक्ति का प्राथमिक विकास होता है; जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय, यम-नियम आदि को थोड़े वहुत रूप में करता हे —थोड़े वहुत नियम पालने के लिये सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पॉचवी भूमिका से आगे नहीं है—उनका प्रभाव घटते ही चारित्र-शक्ति विकास और भी वढ़ता है, जिससे आत्मा वाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी वन जाता है। यह हुई विकास की छट्ठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपत्ती 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी-कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का विकास दवता नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण, दिये की ज्योति की स्थिरता व अधिकना मे। आत्मा जव 'संज्वलन' नाम के संस्कारों को दवाता है, तव उत्क्रान्तिपथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लॉघकर ग्यारहवीं-वारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। वारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपत्ती सस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त

दोनों शक्तियां पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका मे सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थरूप में विकसित होकर सदा के लिये एकसी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियो का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

> मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
> अज्ञान - हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥
>
> (शिवगीता—१३–३२)

यह विकास की पराकाष्ठा, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुये ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वेदान्तियो का ब्रह्म-भाव यह जीव का शिव होना, और यही उत्क्रान्ति-मार्ग का अन्तिम साध्य। इसी साध्य तक पहुँचने के लिये आत्मा को विरोधी संस्कारो के साथ लड़ते झगड़ते, उन्हे दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन-जिन भूमिकाओ पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिये। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सब का विशेष स्वरूप थोडे बहुत विस्तार के साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

सुखलाल संघवी।

दूसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची।

दूसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची।

बन्धाधिकार–१

उदयाधिकार–२

उदीरणाधिकार–३

सत्ताधिकार–४

आभार प्रदर्शन

卐

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में हापुड़ निवासी
श्रीयुत सेठ मानमलजी उत्तमचंदजी
साहब की ओर से प्राप्त २५०)
की आर्थिक सहायता के
लिए मण्डल आपका
बहुत आभारी
है।

कर्मस्तवनामक दूसरा कर्मग्रन्थ ।

बन्धाधिकार ।

तह थुमिणो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

(तथा स्तुमो वीरजिनं यथा गुणस्थानेषु सकलकर्माणि ।
बन्धोदयोदीरणासत्ताप्राप्तानि क्षपितानि ॥ १ ॥)

अर्थ—गुणस्थानों मे बन्धको, उदय को, उदीरणा को और सत्ता को प्राप्त हुये सभी कर्मों का क्षय जिस प्रकार भगवान् वीर ने किया, उसी प्रकार से उस परमात्मा की स्तुति हम करते हैं ।

भावार्थ—असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन ही स्तुति कहलाती है । सकल कर्मों का नाश यह भगवान् का असाधारण और यथार्थ गुण है, इससे उस गुण का कथन करना यही स्तुति है ।

मिथ्यात्वआदि निमित्तो से ज्ञानावरण आदि रूप मे परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी के समान मिल जाना, उसे "बंध" कहते हैं ।

उदय काल आने पर कर्मों के शुभाशुभ फल का भोगना, "उदय" कहलाता है।

[अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर जिस समय कर्मके फल का अनुभव होता है, उस समय को "उदयकाल" समझना चाहिये।

बन्धे हुये कर्म से जितने समय तक आत्मा को बाधा नहीं होती–अर्थात् शुभाशुभ-फल का वेदन नहीं होता उतने समय को "अबाधा काल" समझना चाहिये।

सभी कर्मों का अबाधा काल अपनी अपनी स्थिति के अनु-सार जुदा जुदा होता है। कभी तो वह अबाधा काल स्वाभाविक क्रमसे ही व्यतीत होता है, और कभी अपवर्तना करण से जल्द पूरा होजाता है।

जिस वीर्य-शक्ति विशेषसे पहले बँधे हुये कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते है उसको, "अपवर्तना करण" समझना चाहिये।]

अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय मे आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्नविशेष से खींच कर उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उसे "उदीरणा" कहते हैं।

बँधे हुये कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़ कर आत्मा के साथ लगा रहना "सत्ता" कहलाती है।

[बद्ध-कर्म, निर्जरा से और संक्रमण से अपने स्वरूप को छोड़ देता है।

बँधे हुये कर्मका तप-ध्यान-आदि साधनों के द्वारा आत्मा से अलग हो जाना "निर्जरा" कहलाती है ।

जिस वीर्य-विशेष से कर्म, एक स्वरूप को छोड़ दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य विशेष का नाम "संक्रमण करण" है। इस तरह एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीयकर्मप्रकृतिरूप बन जाना भी संक्रमण कहाता है। जैसे–मतिज्ञानावरणीय कर्म का श्रुतज्ञानावरणीय कर्मरूपमें बदल जाना या श्रुतज्ञानावरणीय कर्म्म का मतिज्ञानावरणीय कर्म रूप मे बदल जाना। क्योकि ये दोनो प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म का भेद होने से आपस मे सजातीय हैं।]

प्रत्येक गुणस्थान मे जितनी कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों की उदीरणा की जा सकती है और जितनी कर्म प्रकृतियाँ सत्तागत हो सकती हैं; उनका क्रमशः वर्णन करना, यही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से इस ग्रन्थ मे पूरा किया है ॥ १ ॥

पहले गुण स्थानो को दिखाते हैं

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमु वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥
(मिथ्यात्वसास्वादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्ताप्रमत्तम् ।
निवृत्त्यनिवृत्ति सूक्ष्मोपशम क्षीणसयोग्ययोगिगुणाः ॥२॥)

अर्थ—गुणस्थान के १४ (चौदह) भेद हैं । जैसे—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) सास्वादन (सासादन) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (५) देशविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्त-संयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, (८) निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान, (९) अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान, (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, (१२) क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, (१३) सयोगि केवलि गुणस्थान और (१४) अयोगि केवलि गुणस्थान ।

भावार्थ—जीव के स्वरूपविशेषों को (भिन्न भिन्न स्वरूपों को) गुणस्थान कहते हैं । ये स्वरूपविशेष ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होते हैं । जिस वक्त अपना आवरणभूत कर्म कम होजाता है, उस वक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आदि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है । और जिस वक्त आवरणभूत कर्म की अधिकता हो जाती है, उस वक्त उक्त गुणों की शुद्धि कम हो जाती है, और अशुद्धि बढ़ जाती है । यद्यपि शुद्धि तथा अशुद्धि से होनेवाले जीव के स्वरूप विशेष असख्य प्रकार के होते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप चौदह गुणस्थानो के रूप मे कर दिया गया है । चौदहों गुणस्थान मोक्षरूप महल को प्राप्त करने के लिये सीढ़ियों के समान हैं । पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर २ गुणस्थान मे ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है, और अशुद्धि घटती जाती है । अतएव आगे आगे के गुणस्थानों मे अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियाँ अधिक बाँधी जाती हैं, और शुभ प्रकृतियों का बंध भी क्रमश. रुकता जाता है ।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान- मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपात्ति) मिथ्या (उलटी) हो जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहाता है जैसे—धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद-चीज़ को भी पीली देखता और मानता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव भी जिसमे देव के लक्षण नहीं हैं उसको देव मानता है, तथा जिसमें गुरु के लक्षण नहीं उस पर गुरु-बुद्धि रखता है और जो धर्मों के लक्षणों से रहित है उसे धर्म समझता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव का स्वरूप-विशेष ही " मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान " कहाता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि जब उसकी दृष्टि मिथ्या (अयथार्थ) है तब उसका स्वरूप-विशेष भी विकृत—अर्थात् दोषात्मक हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि सर्वथा यथार्थ नहीं होती, तथापि वह किसी अंश मे यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी-आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता तथा मानता है। इसलिये उसके स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहा है। जिस प्रकार गाढ़े बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती ही है जिससे कि दिन रात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टि-गुण सर्वथा आवृत नहीं होता। अतएव किसी न किसी अंश मे मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि किसी भी अंश मे यथार्थ हो सकती है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है ?

उत्तर—एक अंश मात्र की यथार्थ प्रतीति होने से जीव सम्यग्दृष्टि नहीं कहाता, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जो जीव सर्वज्ञ के कहे हुये बारह अङ्गों पर श्रद्धा रखता है परन्तु उन अङ्गों के किसी भी एक अक्षर पर विश्वास नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। जैसे जमालि। मिथ्यात्वी की अपेक्षा सम्यक्त्व-जीव में विशेषता यही है कि सर्वज्ञ के कथन के ऊपर सम्यक्त्वी का विश्वास अखडित रहता है, और मिथ्यात्वी का नहीं ॥ १ ॥

सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान–जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वी है, परन्तु अनन्तानुवन्धि कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक—अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है और उस जीव का स्वरूप—विशेष "सासादान सम्यग्दृष्टि—गुण स्थान" कहाता है ॥

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव मे आता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर झुके हुये उस जीव को भी, कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव मे आता है। अतएव इस गुणस्थान को "सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान" भी कहते हैं ॥

प्रसंगवश इसी जगह औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम लिख दिया जाता है॥

जीव अनादि-काल से संसार मे घूम रहा है, और तरह तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वत की नदी का पत्थर इधर उधर टकरा कर गोल और चीकना वन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनेक दुःख सहते २ कोमल और शुद्ध परिणामी वन जाता है। परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि जिस के वल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यात भाग न्यून कोटा कोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इसी परिणाम का नाम शास्त्र में यथाप्रवृत्ति करण है। यथाप्रवृति करण से जीव रागद्वेप की एक ऐसी मजवूत गॉठ, जोकि कर्कश, दृढ़ और गूढ़ वॉस की गांठ के समान दुर्भेद है वहॉ तक आता है, परन्तु उस गांठ को भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्ति करण से अभव्य जीव भी ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकते हैं—अर्थात् कर्मों की वहुत वड़ी स्थिति को घटा कर अन्तः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को तोड़ नहीं सकते। और भव्य जीव यथाप्रवृत्ति करण नामक परिणाम से भी विशेप शुद्ध—परिणाम को पा सकता है। तथा उसके द्वारा रागद्वेप की दृढ़तम ग्रन्थि को—अर्थात् रागद्वेष के अति दृढ़—संस्कारों को छिन्न भिन्न कर सकता है। भव्य जीव जिस परिणाम से राग द्वेप की दुर्भेद ग्रन्थि को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र मे "अपूर्वकरण' कहते हैं। "अपूर्वकरण" नाम रखने का मतलव यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, वार वार नहीं होता। अतएव वह परिणाम अपूर्वसा है। इसके विपरीत "यथाप्रवृत्ति"

करण' नामक परिणाम तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है। अपूर्वकरण-परिणाम से जब राग द्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, तब तो और भी अधिक शुद्ध परिणाम होता है। इस अधिक शुद्ध परिणाम को "अनिवृत्ति करण" कहते है। इसे अनिवृत्तिकरण कहने का अभिप्राय यह है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। सम्यक्त्व को प्राप्त किये विना वह निवृत्त नहीं होता-अर्थात् पीछे नहीं हटता। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास—अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तमुहूर्त्त-प्रमाण मानी जाती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तमुहूर्त्त प्रमाण स्थिति मे से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते है, और एक भाग मात्र शेप रह जाता है, तब अन्तःकरण की क्रिया शुद्ध होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तमुहूर्त्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग-जिसमे अन्तःकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है-वह भी अन्तमुहूर्त्त प्रमाण ही होता है। अन्तमुहूर्त्त के असंख्यात भेद है, इसलिये यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तमुहूर्त्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तमुहूर्त्त जिसको अन्तरकरण क्रिया काल कहना चाहिये-वह छोटा होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग मे अन्तरकरण की क्रिया होती है इसका मतलब यह है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिको को जो कि अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तमुहूर्त्त तक उदय मे आनेवाले है, आगे पीछे कर लेना अर्थात् अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तमुहूर्त्त प्रमाण काल मे मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय मे आनेवाले हों, उनमे से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त

उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित किया जाता है। और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त्त के वाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के वाद का एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का दलिक रहता ही नहीं। अतएव जिसका अवाधा काल पूरा हो चुका है, ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग हो जाते हैं। एक भाग तो वह जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदयमान रहता है, और दूसरा भाग वह जो अनिवृत्तिकरण के वाद एक अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय मे आता है। इन दो भागो मे से पहले भाग को मिथ्यात्व को प्रथम स्थिति और दूसरे भाग को द्वितीय स्थिति कहते हैं। जिस समय मे अन्तर करण किया शुरू होती है अर्थात् निरन्तर उदययोग्य दलिकों का व्यवधान किया जाता है, उस समय से अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उक्त दो भागो मे से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता। क्योंकि उस वक्त जिन दलिकों के उदय का सम्भव है, वे सब दलिक, अन्तरकरण क्रिया से आगे और पीछे उदय मे आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त मिथ्यात्व का उदय रहता है, इसलिये उस वक्त तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। परन्तु अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो चुकने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता। इस लिये जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्वगुण व्यक्त होता है और

औपशमिक सम्यक्त्व कहाता है। औपशमिक सम्यक्त्व उतने काल तक रहता है जितने कालतक के उदय योग्य दलिक आगे पीछे कर लिये जाते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त वेदनीय दलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है इससे यह भी सिद्ध है कि औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रहता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव का पदार्थों की स्फुट या असंदिग्ध प्रतीति होती है, जैसे कि जन्मान्ध मनुष्य को नेत्रलाभ होने पर होती है। तथा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही मिथ्यात्व-रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा अपूर्व आनन्द अनुभव मे आता है जैसा कि किसी बीमार को अच्छी औषधि के सेवन से बीमारी के हट जाने पर अनुभव मे आता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा तथा अन्तरकरण काल कहते हैं। प्रथम स्थिति के चरम समय मे अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है जो कि उपशान्ताद्धा के पूरा हो जाने के बाद उदय में आने वाला है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदो नामक धान्य) औषधि विशेष से साफ किया जाता है, तब उसका एक भाग इतना शुद्ध हो जाता है जिससे कि, खाने वाले को नशा नहीं होता कुछ भाग शुद्ध होता है परन्तु बिल्कुल शुद्ध नहीं होता, अर्द्ध शुद्ध सा रह जाता है। और कोद्रव का कुछ भाग तो अशुद्ध ही रह जाता है जिससे कि खाने वाले को नशा हो आता है। इसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत-मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीन पुंजों (भागों) मे से एक पुंज तो इतना विशुद्ध हो जाता है कि उस मे सम्यक्त्वघातकरस (सम्यक्त्वनाशकशक्ति) का अभाव हो जाता है। दूसरा पुंज आधाशुद्ध (शुद्धाशुद्ध) हो जाता

है। और तीसरा पुंज तो अशुद्ध ही रह जाता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के बाद उक्त तीन पुंजों मे से कोई एक पुंज जीव के परिणामानुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्ध परिणामी ही रहा तो शुद्ध पुंज उदयगत होता है। शुद्धपुंज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो होता नहीं इससे उस समय जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम न तो बिल्कुल शुद्ध रहा और न बिल्कुल अशुद्ध, किन्तु मिश्र ही रहा तो अर्धविशुद्ध पुंजका उदय हो आता है। और यदि परिणाम अशुद्ध ही हो गया तब तो अशुद्ध पुंज उदयगत हो जाता है, अशुद्ध पुंज के उदयप्राप्त होने से जीव, फिर मिथ्यादृष्टि बन जाता है। अन्तमुहूर्त्त प्रमाण उपशान्त-अद्धा, जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है, उसका जघन्य एक समय या उत्कृष्ट छ. (६) आवलिकायें जब बाकी रह जाती हैं, तब किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न आ पड़ता है अर्थात् उसकी शान्ति में भङ्ग पड़ता है। क्योंकि उस समय अनन्तानुबंधि कषाय का उदय हो आता है। अनन्तानुबन्धि कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम का त्याग कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। और जब तक वह मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक अर्थात् उपशान्त-अद्धा के जघन्य एक समय पर्यन्त अथवा उत्कृष्ट छ. आवलिका पर्यन्त सासादन भाव का अनुभव करता है। इसी से उस समय वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है। जिसको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वही सासादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है; दूसरा नहीं ॥२॥

सम्यगमिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—मिथ्यात्वमोहनीय के पूर्वोक्त तीन पुंजों में से जब अर्द्ध-विशुद्ध-पुंज का उदय हो आता है, तब जैसे गुड़ से मिश्रित दही का स्वाद कुछ अम्ल (खट्टा) और कुछ मधुर (मीठा) अर्थात् मिश्र होता है इस प्रकार जीव की दृष्टि भी कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यगमिथ्यादृष्टि (मिश्र दृष्टि) कहाता है तथा उसका स्वरूपविशेष सम्यगमिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) इस गुण स्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता सी आ जाती है। जिससे जीव सर्वज्ञ के कहे हुए तत्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है, और न एकान्त अरुचि। किन्तु वह सर्वज्ञ प्रणीत-तत्वों के विषय में इस प्रकार मध्यस्थ रहता है, जिस प्रकार कि नालिकेर द्वीप निवासी मनुष्य ओदन (भात) आदि अन्न के विषय में। जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होते हैं, वहाँ के अधिवासियों ने चावल आदि अन्न न तो देखा होता है और न सुना। इससे वे अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देख कर उसके विषय में रुचि या घृणा नहीं करते। किन्तु समभाव ही रहते है। इसी तरह सम्यगमिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति न करके, समभाव ही रहते हैं। अर्धविशुद्ध पुंज का उदय अन्तर्मुहूर्त्त मात्र पर्यन्त रहता है। इसके अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय हो आता है। अतएव तीसरे गुणस्थान की स्थिति, मात्र अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है ॥३॥

अविरतसम्यग्दृष्टि गुण स्थान—सावद्य व्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाना उसे विरति कहते हैं। चारित्र और व्रत, विरति ही का नाम है।

जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी भी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि और उसका स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान कहाता है। अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं। जैसे—

१—जो व्रतो को न जानते है, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं वे सामान्यत: सब लोग।

२—जो व्रतो को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं। वे तपस्वीविशेष।

३—जो व्रतो को जानते नहीं, परन्तु स्वीकारते है और स्वीकार कर पालते नहीं, वे पार्श्वस्थ नामक साधुविशेष।

४—जिनको व्रतो का ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते है, वे अगीतार्थ मुनि।

५—जिनको व्रतो का ज्ञान तो है, परन्तु व्रतो का स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, वे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

६—जो व्रतो को जानते हुए भी स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनका पालन अवश्य करते हैं, वे अनुत्तरविमानवासिदेव।

७—जो व्रतों को जानकर स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु पोछे से उनका पालन नहीं कर सकते, वे संविग्नपाक्षिक।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्ग्रहण और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिनको व्रतों का सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतो को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतो का यथार्थ पालन नहीं करते,

वे सब घुणाक्षरन्याय से व्रतों को पाल भी लें तथापि उससे फल का सम्भव नहीं है। उक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार प्रकार के अविरत- जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं। क्योंकि उनको व्रतों का यथार्थ ज्ञान नहीं है और पिछले तीन प्रकार के अविरत जीव सम्यग्दृष्टि हैं। क्योंकि वे व्रतों को यथाविधि ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, तथापि उन्हें यथार्थ जानते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों में भी कोई औपशमिक-सम्यक्त्वी होते हैं, कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होते हैं और कोई क्षायिक-सम्यक्त्वी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रत-नियम को यथावत् जानते हुए भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते क्योंकि उनको अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय रहता है, और यह उदय चारित्र के ग्रहण तथा पालन का प्रतिबंधक (रोकने वाला) है ॥४॥

देशविरतगुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव, पाप जनक क्रियाओं से बिलकुल नहीं किन्तु देश (अंश) से अलग हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं, और उनका स्वरूप-विशेष देशविरत गुण स्थान। कोई श्रावक एक व्रत को ग्रहण करता है, और कोई दो व्रत को। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रत को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं जो कि पापकार्यों में अनुमति के सिवा और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते अनुमति तीन प्रकार की है। जैसे १—प्रतिसेवनानुमति, २—प्रतिश्रवणानुमति और ३—सवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुए भोजन आदि का उपभोग करना "प्रतिसेवनानुमति" कहाती है। पुत्र आदि किसी सम्बन्धि के द्वारा किये गये पाप कर्म्मों को केवल सुनना, और सुन कर भी उन कामों के करने

से पुत्र आदि को नहीं रोकना, उसे "प्रतिश्रवणानुमति" कहते है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पाप-कार्य मे प्रवृत्त होने पर, उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना—अर्थात् न तो पाप-कर्मों को सुनना और सुन कर भी न उसकी प्रशंसा करना, इसे "संवासानुमति" कहते हैं। जो श्रावक पापजनक आरम्भो मे किसी भी प्रकार से योग नहीं देता केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावको मे श्रेष्ठ है ॥५॥

प्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारो से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वे ही संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक प्रमत्तसंयत कहाते हैं, और उनका स्वरूपविशेष प्रमत्त संयत गुणस्थान कहाता है। जो जीव संयत होते है, वे यहाँ तक सावद्य कर्म्मों का त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति को भी नहीं सेवते। इतना त्याग कर सकने का कारण यह है कि, छठे गुणस्थान से लेकर आगे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता ही नहीं है ॥६॥

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय विकथा आदि प्रमादों को नहीं सेवते वे अप्रमत्त संयत हैं, और उनका स्वरूप-विशेप, जो ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होता है, वह अप्रमत्तसंयत गुण स्थान है। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है। इसलिये सातवे गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानो में वर्तमान मुनि, अपने स्वरूप मे अप्रमत्त ही रहते है ॥७॥

निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान—जो इस गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं तथा जो प्राप्त कर रहे हैं और जो आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवो के अध्यवसाय स्थानो की (परिणाम-भेदो की) संख्या, असंख्यात-लोकाकाशो के प्रदेशों के बराबर है। क्योंकि इस आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्यात समय होते है जिनमे से केवल प्रथम समयवर्ती त्रैकालिक (तीनो काल के) जीवो के अध्यवसाय भी असख्यात-लोकाकाशो के प्रदेशों के तुल्य हैं। इस प्रकार दूसरे, तीसरे आदि प्रत्येकसमयवर्ती त्रैकालिक जीवो के अध्यवसाय भी गणना मे असख्यात-लोकाकाशो के प्रदेशो के बराबर ही हैं। असंख्यात संख्या के असख्यात प्रकार हैं। इसलिये एक-एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवो के अध्यवसायो की संख्या और सब समय समयो में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायो की संख्या—ये दोनों संख्यायें सामान्यत. एकसी अर्थात् असंख्यात ही हैं। तथापि वे दोनो असंख्यात सख्यायें परस्पर भिन्न हैं। यद्यपि इस आठवे गुणस्थान के प्रत्येक समय-वर्ती त्रैकालिक-जीव अनन्त ही होते हैं, तथापि उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवो के अध्यवसाय यद्यपि आपस मे जुदे जुदे (न्यूनाधिक शुद्धि वाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धि वाले होने से जुदे जुदे नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायो मे से जो अध्यवसाय, कम शुद्धि वाले होते है, वे जघन्य। तथा जो अध्यवसाय अन्य सब अध्यवसायो की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते हैं, वे उत्कृष्ट कहाते हैं। इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायो का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायो का होता है। इन दो वर्गों

के बीच मे असंख्यात वर्ग हैं, जिनके सब अध्यवसाय मध्यम कहाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायो की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्त-गुण अधिक मानी जाती है और बीच के सब वर्गों मे से पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायो की अपेक्षा पर पर वर्ग के अध्यवसाय, विशेष शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि सम-समयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्त-भाग-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, सख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध, असख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध और अनन्त-गुण-अधिक-शुद्ध होते हैं। इस तरह की अधिक-शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त-भाग-अधिक आदि छः प्रकारो को शास्त्र मे 'षट्स्थान' कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं। तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध होते है और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध होते है। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायो से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिये। और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से तत्समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायो की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध समझने चाहिये।

इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पॉच वस्तुओ का विधान करता है। जैसे—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुणश्रेणि, ४ गुणसक्रमण और अपूर्व स्थितिबंध।

१—जो कर्म-दलिक आगे उदय मे आने वाले हैं, उन्हे अप-

वर्तना-करण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा देना—अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तना-करण से घटा देना इसे "स्थितिघात" कहते है।

२—बँधे हुए ज्ञानवरणादि-कर्मों के प्रचुर रस (फल देने की तीव्र शक्ति) को अपवर्तना-करण के द्वारा मन्द कर देना यही "रसघात" कहलाता है।

३—जिन कर्म दलिकों का स्थितिघात किया जाता है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते हैं, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त्त मे स्थापित कर देना "गुणश्रेणि" कहाती हैं। स्थापन का क्रम इस प्रकार है:—उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं, उनमे से उदयावलिका के समयों को छोड़ कर शेष जितने समय रहते हैं इनमे से प्रथम समय मे जो दलिक स्थापित किये जाते हैं वे कम होते हैं। दूसरे समय मे स्थापित किये जाने वाले दलिक प्रथम समय मे स्थापित-दलिकों से असंख्यात-गुण अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त के चरमसमयपर्यन्त पर पर समय मे स्थापित किये जाने वाले दलिक, पूर्व पूर्व समय मे स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात-गुण ही समझने चाहिये।

४—जिन शुभ-कर्म प्रकृतियों का बन्ध अभी हो रहा है उनमें पहले बाँधी हुई अशुभ-प्रकृतियों का संक्रमण कर देना—अर्थात् पहले बाँधी हुई अशुभ-प्रकृतियों को वर्तमान बन्ध वाली शुभ-प्रकृतियों के रूप मे परिणत करना "गुण-संक्रमण" कहलाता है।

गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप मे इस प्रकार है—प्रथम समय मे अशुभ-प्रकृति के जितने दलिकों का शुभ-प्रकृति मे संक्रमण

होता है, उनकी अपेक्षा दूसरे समय मे असंख्यात-गुण-अधिक दलिको का संक्रमण होता है। इस प्रकार जव तक गुण संक्रमण होता रहता है तव तक पूर्व पूर्व समय मे संक्रमण किये गये दलिको से उत्तर उत्तर समय में असंख्यात गुण अधिक दलिको का ही संक्रमण होता है।

५—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प-स्थिति के कर्मों को वॉधना "अपूर्वस्थितिवन्ध" कहलाता है।

ये स्थितिघात-आदि पॉच पदार्थ, यद्यपि पहले के गुणस्थानो मे भी होते है, तथापि आठवे गुणस्थान में वे अपूर्व ही होते हैं। क्योंकि पहले के गुणस्थानो मे अध्यवसायो को जितनी शुद्धि होती है उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान मे अध्यवसायो की शुद्धि अत्यन्त अधिक होती है। अतएव पहले के गुणस्थानो मे वहुत कम स्थिति का और अति अल्प रस का घात होता है। परन्तु आठवें गुणस्थान मे अधिक स्थिति का तथा अधिक रस का घात होता है। इसी तरह पहले के गुणस्थानो मे गुणश्रेणि की काल-मर्यादा अधिक होती है, तथा जिन दलिको की गुण श्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है वे दलिक भी अल्प ही होते हैं, और आठवे गुणस्थान मे गुणश्रेणि-योग्य-दलिक तो वहुत अधिक होते हैं, परन्तु गुणश्रेणि का काल-मान वहुत कम होता है। तथा पहले गुणस्थानो की अपेक्षा आठवें गुणस्थान मे गुण संक्रमण भी वहुत कर्मों का होता है, अतएव वह अपूर्व होता है। और आठवे गुणस्थान मे इतनी अल्प स्थिति के कर्म वॉधे जाते हैं कि जितनी अल्प-स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानो मे कदापि नहीं बॅधते। इस प्रकार उक्त स्थिति घात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का दूसरा

नाम "अपूर्व-करण" गुणस्थान यह भी शास्त्र मे प्रसिद्ध है।

जैसे राज्य को पाने की योग्यतामात्र से भी राजकुमार राजा कहाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थान मे वर्तमान जीव, चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशमक या क्षपक कहलाते हैं। क्योंकि चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ नववें गुणस्थानक मे ही होता है, आठवें गुणस्थान मे तो उसके उपशमन या क्षपण के प्रारम्भ की योग्यतामात्र होती है ॥ ८ ॥

अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान—इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तमुहूर्त्त प्रमाण ही है। एक अन्तमुहूर्त्त के जितने समय होते है उतने ही अध्यवसाय-स्थान, इस नववें गुणस्थानक मे माने जाते हैं; क्योंकि नववें गुणस्थानक मे जो जीव सम-समयवर्ती होते हैं उन सब के अध्यवसाय एक से अर्थात् तुल्य-शुद्धिवाले होते हैं। जैसे प्रथम समयवर्ती त्रैकालिक अनन्तजीवो के भी अध्यवसाय समान ही होते हैं इस प्रकार दूसरे समय से लेकर नववे गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय मे वर्त्तमान त्रैकालिक जीवो के अध्यवसाय भी तुल्य ही होते है। और तुल्य अध्यवसायो को एक ही अध्यवसाय-स्थान मान लिया जाता है। इस बात को समझने की सरल रीति यह भी है कि नववे गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय हैं। एक एक वर्ग मे चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायो की अनन्त व्यक्तियाँ शामिल हों, परन्तु प्रतिवर्ग अध्यवसाय-स्थान एक ही माना जाता है; क्योंकि एक वर्ग के सभी अध्यवसाय, शुद्धि में बराबर ही होते हैं.

परन्तु प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान से अर्थात् प्रथम वर्गीय अध्यवसायों से-दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान-अर्थात् दूसरे वर्ग के अध्यवसाय—अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नववें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व २ समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर २ समय के अध्यवसाय-स्थान को अनन्त-गुण-विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुण-स्थानक से नववें गुणस्थानक में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थानक में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय, शुद्धि के तरतम-भाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, परन्तु नववें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त-जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं, और कषाय की (सक्लेश की) जितनी ही कमी हुई, उतनी ही विशुद्धि जीव के परिणामों की बढ़ जाती है। आठवें गुणस्थान से नववें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुण-स्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती है।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नववें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है। तथा नववें गुणस्थान के सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसीलिये इस गुणस्थान का "अनिवृत्ति-बादर सम्पराय" ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नववें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव, दो प्रकार के होते हैं.—एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र

मोहनीय कर्म का उपशमन करते है, वे उपशामक और जो चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं ॥ ९ ॥

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान— इस गुणस्थान मे सम्पराय के अर्थात लोभ-कषाय के सूक्ष्म-खण्डो का ही उदय रहता है। इसलिये इसका "सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान" ऐसा सार्थक नाम प्रसिद्ध है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक होते हैं। जो उपशमक होते हैं वे लोभ-कषायमात्र का उपशमन करते है और जो क्षपक होते हैं वे लोभ-कपाय-मात्र का क्षपण करते हैं। क्योंकि दसवें गुणस्थान मे लोभ के सिवा दूसरी चारित्रमोहनीय-कर्म की ऐसी प्रकृति ही नहीं है जिसका कि उपशमन या क्षपण हुआ न हो ॥ १० ॥

उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान—जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, जिनको राग का भी (माया तथा लोभ का भी) सर्वथा उदय नहीं है, और जिनको छद्म (आवरण भूत घातिकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशान्तकपायवीतरागछद्मस्थ तथा उनका स्वरूप-विशेष "उपशान्तकपायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान" कहाता हैं।

[विशेषण दो प्रकार का होता है। १ स्वरूप विशेषण, और २ व्यावर्तक विशेषण। "स्वरूपविशेषण" उस विशेषण को कहते हैं जिस विशेषण के न रहने पर भी शेष भाग से इष्ट-अर्थ का बोध हो ही जाता है—अर्थात जो विशेषण अपने विशेष के स्वरूप मात्र को जानता है। "व्यावर्तक विशेषण' उस विशेषण को कहते हैं जिस विशेषण के रहने से ही इष्ट-अर्थ का बोध हो सकता है—अर्थात् जिस विशेषण के

अभाव मे इष्ट के सिवा दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।]

"उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान" इस नाम मे १ उपशान्तकषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमे "छद्मस्थ" यह विशेषण स्वरूप-विशेषण हैं; क्योंकि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से—अर्थात् उपशान्त-कषाय-वीतराग-गुणस्थान इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का (ग्यारहवें गुणस्थान का) बोध हो जाता है, और इष्ट के अति-रिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र जानता है। उपशान्त-कषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक-विशेषण हैं, क्योंकि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव से वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के (ग्यारहवें गुणस्थान के) सिवा बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्योंकि बारहवें गुणस्थान मे भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण—आदि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के ग्रहण करने से बारहवे गुण-स्थान का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव मे "उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान" इतने नाम से चतुर्थ पंचम—आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्योंकि चतुर्थ, पचम आदि गुणस्थानों मे भी जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो सकते हैं। परन्तु "वीतराग" इस विशेषण के रहने

से चतुर्थ-पंचम—आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि उन गुणस्थानों मे वर्त्तमान जीव का राग के (माया तथा लोभ के) उदय का सद्भाव ही होता है, अतएव वीतरागत्व असम्भव है।

इस ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है।

इस गुणस्थान मे वर्तमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता; क्योंकि जो जीव क्षपक-श्रेणि को करता है वही आगे के गुणस्थानों को पा सकता है। परन्तु ग्यारहवे गुणस्थान मे वर्तमान जीव तो नियम से उपशम-श्रेणि करने वाला ही होता है, अतएव वह जीव ग्यारहवे गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। गुणस्थान का समय पूरा न हो जाने पर भी जो जीव भव के (आयु के) क्षय से गिरता है वह अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न होता है और चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है। क्योंकि उस स्थान मे चोथे के सिवा अन्य गुणस्थानों का सम्भव नहीं है। चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुणस्थान मे जितनी कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का उदय का तथा उदीरणा का सम्भव है उन सब कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को एक साथ शुरू कर देता हे। परन्तु आयु के रहते हुए भी गुणस्थान का समय पूरा हो जाने से जो जीव गिरता है वह आरोहण-क्रम के अनुसार, पतन के समय, गुणस्थानों को प्राप्त करता है—अर्थात् उसने आरोहण के समय जिस जिस गुणस्थान को पाकर जिन जिन कर्म प्रकृतियों के बन्ध का, उदय का और उदीरणा का विच्छेद किया हुआ होता है, गिरने के वक्त भी उस उस

गुणस्थान को पाकर वह जीव उन उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को शुरू कर देता है। अद्धा-क्षय से —अर्थात् गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में भी आता है।

यह कहा जा चुका है कि उपशम श्रेणि वाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान में अवश्य ही गिरता है। इसका कारण यह है कि उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति क्षपक-श्रेणि के बिना नहीं होती। एक जन्म में दो से अधिक बार उपशम-श्रेणि नहीं की जा सकती और क्षपक श्रेणि तो एक बार ही होती है। जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह उस जन्म में क्षपक श्रेणि कर मोक्ष को पा सकता है। परन्तु जो दो बार उपशम-श्रेणि कर चुका है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर नहीं सकता। यह तो हुआ "कर्मग्रन्थ' का अभिप्राय। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय ऐसा है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणि कर सकता है। अतएव जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक-श्रेणि नहीं कर सकता।

उपशम-श्रेणि के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है— चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धिकषायों का उपशम करता है और पीछे दर्शनमोहनीय-त्रिक का उपशम करता है। इसके बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों दफे आता और जाता है। पीछे आठवें गुणस्थान में होकर

नववें गुणस्थान को प्राप्त करता है और नववें गुणस्थान मे चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम शुरू करता है। सबसे पहले वह नपुंसकवेद को उपशान्त करता है। इसके बाद स्त्री वेद को उपशान्त करता है। इसके अनन्तर क्रम से हास्यादि—षट्क को, पुरुषवेद को, अप्रत्याख्यानावरण - प्रत्याख्यानावरण - क्रोध-युगल को, सञ्ज्वलन क्रोध को, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्या-नावरण-मान-युगल को, संज्वलन मान को, अप्रत्याख्याना-वरण - प्रत्याख्यानावरण - माया-युगल को, सञ्ज्वलन माया को और अप्रत्याख्यानावरण - प्रत्याख्यानावरण - लोभ - युगल को नववें गुणस्थान के अन्त तक मे उपशान्त करता है। तथा वह संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है ॥११॥

क्षीणकषायवीतरागछद्‌मस्थगुणस्थान—जिन्होने मोह-नीय - कर्म का सर्वथा क्षय किया है, परन्तु शेष छद्म-(घाति कर्म) अभी विद्यमान हैं वे क्षीण-कषाय वीतराग-छद्मस्थ कहाते हैं और उनका स्वरूप - विशेष क्षीणक-षायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहाता है। बारहवें गुणस्थान के इस नाम १—क्षीण - कषाय, २—वीतराग और ३—छद्‌मस्थ—ये तीन विशेषण हैं और ये तीनों विशेषण व्यावर्तक हैं। क्योंकि "क्षीणकषाय" इस विशेषण के अभाव मे 'वीतरागछद्‌मस्थ' इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है। और "क्षीणकषाय" इस विशेषण से केवल बारहवें गुणस्थान का ही बोध हो जाता है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान मे कषाय क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं।

तथा "वीतराग' इस विशेषण के अभाव में भी क्षीणकषाय-छद्मस्थगुणस्थान इतना ही नाम बारहवें गुणस्थान का ही बोधक नहीं होता किन्तु चतुर्थ आदि गुणस्थानों का भी बोधक हो जाता है, क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबन्धि आदि कषायों का क्षय हो सकता है। परन्तु "वीतराग" इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ-आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि उन गुणस्थानों मे किसी न किसी अंश मे राग का उदय ही है। अतएव वीतरागत्व असम्भव है। इस प्रकार "छद्मस्थ" इस विशेषण के न रहने से भी "क्षीणकषाय वीतराग" इतना नाम बारहवे गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु "छद्मस्थ" इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को छद्म (घातिकर्म) नहीं हाता।

बारहवे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है। बारहवें गुणस्थान मे वर्तमान जीव क्षपक-श्रेणि वाले ही होते हैं।

क्षपक-श्रेणि का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

जो जीव क्षपक-श्रेणि को करने वाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय करता है और इसके बाद आठवें गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण - कषाय - चतुष्क तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन आठ कर्म-प्रकृतियो के

क्षय का प्रारम्भ करता है। तथा ये आठ प्रकृतियां पूर्ण क्षीण नहीं होने पातीं कि बीच में ही नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में १६ प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। वे प्रकृतियां ये हैं—स्त्यानर्द्धि-त्रिक ३, नरक-द्विक ५, तिर्यग्-द्विक ७, जाति-चतुष्क ११, आतप १२, उद्योत १३, स्थावर १४, सूक्ष्म १५ और साधारण १६, इसके अनन्तर वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क का तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का शेष भाग, जो कि क्षय होने से अभी तक बचा हुआ है, उसका क्षय करता है और अनन्तर नववें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुन्सकवेद का, स्त्रीवेद का, हास्यादि-षट्क का, पुरुषवेद का, संज्वलन क्रोध का, सज्वलन मान का और संज्वलन माया का क्षय करता है। तथा अन्त में सज्वलन लोभ का क्षय वह दसवें गुणस्थान में करता है ॥१२॥

सयोगिकेवलिगुणस्थान— जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है और जो योग के सहित हैं वे सयोगि-केवली कहाते हैं तथा उनका स्वरूपविशेष सयोगि-केवलिगुणस्थान कहाता है।

आत्म-वीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम और योग इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। मन, वचन और काय इन तीन साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते हैं। जैसे—१ मनोयोग, २ वचनयोग और ३ काययोग। केवलिभगवान् को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है। जिस समय कोई मन.पर्यायज्ञानी अथवा

अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् को शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछता है। उस समय केवलिभगवान् उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करने वाला मनःपर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् के द्वारा उत्तर देने के लिये संगठित किये गये मनो-द्रव्यों को, अपने मनःपर्यायज्ञान से अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है और देखकर मनो-द्रव्यों की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। केवलिभगवान् उपदेश देने के लिये वचन योग का उपयोग करते हैं और हलन-चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं ॥१३॥

अयोगिकेवलिगुणस्थान— जो केवलिभगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगि-केवली कहाते हैं तथा उनका स्वरूप-विशेष "अयोगिकेवलिगुणस्थान" कहाता है।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगि—अवस्था प्राप्त होती है। केवलज्ञानिभगवान, सयोगि-अवस्था में जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिन केवली भगवान् के वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति तथा पुद्गल (परमाणु), आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे केवलज्ञानी समुद्घात करते हैं और समुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म, स्थिति में तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर हैं

उनको समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव वे समुद्घात को करते भी नहीं।

सभी केवलज्ञानी भगवान् सयोगि-अवस्था के अन्त मे एक ऐसे ध्यान के लिये योगो का निरोध करते हैं, जो कि परम-निर्जरा का कारणभूत तथा लेश्या से रहित और अत्यन्तस्थिरतारूप होता है।

योगो के निरोध का क्रम इस प्रकार है:—

पहले वादर काययोग से वादर मनोयोग तथा वादर वचन योग को रोकते हैं। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग को रोकते हैं, और पीछे उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमश' सूक्ष्म मनोयोग को तथा सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त मे वे केवलज्ञानी भगवान्, सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति-शुक्लध्यान के वल से सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस तरह सब योगो का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी भगवान् अयोगी बन जाते हैं और उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को--मुख, उदर आदि भाग को—आत्मा के प्रदेशो से पूर्ण कर देते हैं। उनके आत्म-प्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे शरीर के ⅔ हिस्से में ही समा जाते हैं। इसके वाद वे अयोगिकेवलि-भगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति-शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय का "शैलेशी करण" करते हैं। सुमेरु-पर्वत के समान निश्चल अवस्था—अथवा सर्व-संवर-रूप योग-निरोध-अवस्था को "शैलेशी" कहते हैं। तथा उस अवस्था मे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म

को गुण-श्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थितश्रेणि से निर्जरा करना उसे "शैलेशीकरण" कहते है। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगि-केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राहि-कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं। और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समयमात्र मे ऋजु-गति से ऊपर की ओर सिद्धि-क्षेत्र मे चले जाते हैं। सिद्धि-क्षेत्र, लोक के ऊपर के भाग मे वर्तमान है। इसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने मे धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता अपेक्षित होती है। परन्तु लोक के आगे—अर्थात् अलोक मे धर्मास्तिकाय-द्रव्य का अभाव है। कर्म-मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व-गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा, लेपों के हट जाने पर जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है ॥ १४ ॥

गुणस्थानो का स्वरूप कहा गया। अब बन्ध के स्वरूप को दिखा कर प्रत्येक गुणस्थान मे बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियो को १० गाथाओ से दिखाते हैं.—

अभिनव-कम्म-ग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थवीस-सय।
तित्थयराहारग-दुग-वज्ज मिच्छमि सत्तर-सय ॥३॥

(अभिनव कर्म-ग्रहणं बन्ध ओघेन तत्र विंशति-शतम्।
तीर्थकराहारक-द्विक-वर्ज मिथ्यात्वे सप्तदश-शतम् ॥३॥)

अर्थ—नये कर्मो के ग्रहण को बन्ध कहते है। सामान्यरूप मे—अर्थात् किसी खास गुणस्थान की अथवा किसी जीव-विशेष की विवक्षा किये विना ही, बन्ध में १२० कर्म-प्रकृतियों

मानी जाती हैं—अर्थात् सामान्यरूप से बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ हैं। १२० कर्म-प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर-नामकर्म और आहारक-द्विक को छोड़कर शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में होता है।

भावार्थ—जिस आकाश—क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश है उसी क्षेत्र में रहनेवाली कर्म-योग्य पुद्गलस्कन्धों की वर्गणाओं को कर्म-रूप से परिणत कर, जीव के द्वारा उनका ग्रहण होना यही अभिनव-कर्म-ग्रहण है। कर्म-योग्य पुद्गलों का कर्म-रूप से परिणमन मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से चार, जीव के वैभाविक (विकृत) स्वरूप हैं, और इसी से वे कर्म-पुद्गलों के कर्म रूप बनने में निमित्त होते हैं। कर्म पुद्गलों में जीव के ज्ञान-दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यही कर्म-पुद्गलों का कर्म-रूप बनना कहाता है। मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक स्वरूपों से कर्म-पुद्गल कर्म रूप बन जाते हैं, उन वैभाविक-स्वरूपों को भाव-कर्म समझना चाहिये। और कर्म-रूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गलों को द्रव्य-कर्म समझना चाहिये। पहिले ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्म के अनुसार भाव-कर्म होते हैं और भाव-कर्म के अनुसार फिर से नवीन द्रव्य कर्मों का संबन्ध होता है। इस प्रकार द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म और भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म ऐसी कार्य-कारण-भाव की अनादि परंपरा चली आती है। आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म जब परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं तब उस स्वभावान्तर-प्राप्ति को संक्रमण समझना चाहिये; बन्ध नहीं। इसी अभिप्राय का

जनाने के लिये कर्म-ग्रहण मात्र को बन्ध न कह कर, गाथा मे अभिनव कर्म-ग्रहण को बन्ध कहा है। जीव के मिथ्यात्व आदि परिणामों के अनुसार कर्म-पुद्गल १२० रूपों में परिणत हो सकते है इसीसे १२० कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध योग्य मानी जाती हैं यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय मे कर्म-पुद्गलो को १२० रूपों मे परिणत नहीं कर सकता—अर्थात् १२० कर्म प्रकृतियो को बाँध नहीं सकता; परन्तु अनेक जीव एक समय मे ही १२० कर्म-प्रकृतियो को बाँध सकते हैं। इसी तरह एक जीव भी जुदी जुदी अवस्था मे जुदे जुदे समय सब मिला कर १२० कर्म-प्रकृतियों को भी बाँध सकता है। अतएव ऊपर कहा गया है कि किसी खास गुणस्थान की और किसी खास जीव की विवक्षा किये विना बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ १२० मानी जाती हैं। इसी से १२० कर्म-प्रकृतियो के बन्ध को सामान्य बन्ध या ओघ-बन्ध कहते हैं।

बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं:—

१—ज्ञानावरण की ५ कर्म-प्रकृतिया, जैसे; (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्यायज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।

२—दर्शनावरण की ९ प्रकृतियाँ, जैसे, (१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला और (९) स्त्यानर्द्धि।

३—वेदनीय की २ प्रकृतियाँ जैसे-(१) सातवेदनीय और (२) असातावेदनीय।

४—मोहनीय की २६ प्रकृतियाँ, जैसेः—मिथ्यात्वमोहनीय (१), अनन्तानुबन्धि-क्रोध, अनन्तानुबन्धि-मान, अनन्तानुबन्धि-माया, अनन्तानुबन्धि-लोभ (४) अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण-मान, अप्रत्याख्यानावरण-माया, अप्रत्याख्यानावरण-लोभ (४) प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, प्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावरणमाया, प्रत्याख्यानावरणलोभ (४) सज्वलनक्रोध, सज्वलनमान, संज्वलनमाया, सज्वलनलोभ (४ , स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद (३), हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा (६)।

५—आयु कर्म की (४) प्रकृतियाँ, जैसेः—(१) नारक-आयु, (२) तिर्यञ्च-आयु, (३) मनुष्य-आयु और (४) देव-आयु।

६—नामकर्म की ६७ प्रकृतियाँ जैसे.—(१) नरकगतिनामकर्म, तिर्यञ्चगतिनामकर्म, मनुष्यगतिनामकर्म और देवगतिनामकर्म, ये चार गतिनामकर्म (२) एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, ये पाँच जातिनामकर्म (३) औदारिकशरीरनामकर्म वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म और कार्मणशरीरनामकर्म—ये पाँच शरीरनामकर्म। (४) औदारिकअङ्गोपाङ्गनामकर्म, वैक्रियअङ्गोपाङ्गनामकर्म और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म ये तीन अङ्गोपाङ्गनामकर्म (५) वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्म, ऋषभनाराचसंहनननामकर्म। नाराचसंहनननामकर्म, अर्धनाराचसंहनननामकर्म, कीलिकासंहनननामकर्म, सेवार्तसंहनननामकर्म—ये छ: संहनननामकर्म (६) समचतुरस्त्रसंस्थाननामकर्म, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्म, सादि-

संस्थाननामकर्म, वामनसंस्थाननामकर्म, कुब्जसंस्थाननामकर्म और हुंडसस्थाननामकर्म ये छ सस्थाननामकर्म (७) वर्णनामकर्म (८) गन्धनामकर्म (९) रसनामकर्म (१०) स्पर्शनामकर्म (११) नरकानुपूर्वीनामकर्म, तिर्यगानुपूर्वीनामकर्म, मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म और देवानुपूर्वीनामकर्म—ये चार आनुपूर्वीनामकर्म (१२) शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगति नामकर्म ये दो विहायोगतिनामकर्म–ये ३९ भेद बारह पिण्ड-प्रकृतियो के हुए; क्योंकि बन्धननामकर्म और संघातननामकर्म—इन दो पिण्ड-प्रकृतियो का समावेश शरीरनामकर्म मे ही किया जाता है। (१) पराघात-नामकर्म, (२) उपघातनामकर्म, (३) उच्छ्वासनामकर्म, (४) आतपनामकर्म, (५) उद्योतनामकर्म, (६) अगुरुलघुनामकर्म, (७) तीर्थङ्करनामकर्म (८) निर्माणनामकर्म–ये आठ प्रत्येकनामकर्म। (१) त्रसनामकर्म, (२) बादरनामकर्म, (३) पर्याप्तनामकर्म (४) प्रत्येकनामकर्म, (५) स्थिरनामकर्म (६) शुभनामकर्म, (७) सुभगनामकर्म, (८) सुस्वरनामकर्म, (९) आदेयनामकर्म और (१०) यशःकीर्त्तिनामकर्म–ये त्रसदशकनामकर्म (१) स्थावरनामकर्म, (२) सूक्ष्मनामकर्म, (३) अपर्याप्तनामकर्म, (४) साधारणनामकर्म, (५) अस्थिरनामकर्म, (६) अशुभनामकर्म, (७) दुर्भगनामकर्म, (८) दुःस्वर-नामकर्म, अनादेयनामकर्म और (१०) अयशःकीर्त्तिनामकर्म–ये स्थावरदशकनामकर्म। ये कुल ६७ भेद हुए।

७—गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियाँ, जैसे-(१) उच्चैर्गोत्र और (२) नीचैर्गोत्र।

८—अन्तरायकर्म की ५ कर्म-प्रकृतियाँ, जैसे-(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, और (५) वीर्यान्तराय।

इन १२० कर्म-प्रकृतियों में से तीर्थङ्करनामकर्म, आहारक-शरीर और आहारकअङ्गोपाङ्ग इन तीन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों को नहीं होता। इस का कारण यह है कि तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध, सम्यक्त्व से होता है और आहारक-द्विक का बन्ध, अप्रमत्तसंयम से। परन्तु मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व का ही सम्भव है और न अप्रमत्तसंयम का; क्योंकि चौथे गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता तथा सातवें गुणस्थान से पहले अप्रमत्त-संयम भी नहीं हो सकता। उक्त तीन कर्म-प्रकृतियों के बिना शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—इन चार कारणों से होता है, इसीसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में वर्तमान जीव शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों को यथासम्भव बाँध सकते हैं ॥३॥

नरयतिगजाइथावर चउ, हुंडायवछिवट्ठ नपुमिच्छं।
सोलंतो इगहिय सय, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥४॥
नरकत्रिकजातिस्थावरचतुष्कं. हुंडातपसेवार्तं नपुमिथ्यात्वम्
षोडशान्तएकाधिकशतं, सास्वादने तिर्यक्स्त्यानर्द्धिदुर्भगत्रिकम्

अणमज्झागिइ संघयण चउ,-निउज्जोय कुखगइत्थिति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरिदुआउअअबन्धा ॥५॥
अनमध्याकृतिसंहनन चतुष्कनीचोद्द्योत कुखगतिस्त्रीति।
पंचविंशत्यन्तो मिश्रे, चतुःसप्तति द्व्यायुष्काऽबन्धात ॥५॥

अर्थ—सास्वादन गुणस्थान में १०१ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि पूर्वोक्त ११७ कर्म-प्रकृतियों में से नरक-त्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुंडसंस्थान, आतपनाम-कर्म, सेवार्तसंहनन. नपुंसकवेद और मिथ्यात्व-मोहनीय

इन १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यादृष्टिगुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है। इससे वे १६ कर्म-प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान से आगे नहीं बाँधी जा सकतीं तथा तिर्यञ्चत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक अनन्तानुवन्धिकपायचतुष्क, मध्यम-संहननचतुष्क, नीचगोत्र, गद्द्योतेनाकर्म, अशुभविहायोगतिनाम- और स्त्रीवेद इन २५—कर्म-प्रकृतियों का वन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है। इससे दूसरे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन २५—कर्म-प्रकृतियों का वन्ध हो नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त १०१—कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्च-त्रिक-आदि उक्त २५ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से से शेष ७६—कर्म-प्रकृतियाँ रह जाती हैं। उन ७६—कर्म प्रकृतियों में से भी मनुष्य-आयु तथा देव-आयु को छोड़ कर शेष ७४—कर्म-प्रकृतियों का वन्ध सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में (तीसरे गुणस्थान में) हो सकता है॥ ५॥

भावार्थ—नरकगति, नरक-आनुपूर्वी और नरक-आयु—इन तीन कर्म-प्रकृतियों को नरकत्रिक शब्द से लेना चाहिये जातिचतुष्क-शब्द का मतलव एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति, इन चार जातिनामकर्मों से है। स्थावरचतुष्कशब्द, स्थावरनामकर्म से साधारणनामकर्म-पर्यन्त चार कर्म-प्रकृतियों का बोधक है। वे चार प्रकृतियाँ ये हैं—स्थावरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म और साधारणनामकर्म।

नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्व-मोहनीय-पर्यन्त, जो १६—कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं वे अत्यन्त अशुभरूप हैं

तथा बहुत कर नारक-जीवों के, एकेन्द्रिय जीवों के और विकलेन्द्रिय जीवों के योग्य हैं। इसी से ये सोलह कर्म प्रकृतियाँ मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म के उदय से ही बाँधी जाती हैं। मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म का उदय पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है दूसरे गुणस्थान समय नहीं। अतएव मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म के उदय से बँधनेवाली उक्त १६—कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक हो सकता है दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। इसी लिये पहले गुणस्थान मे जिन ११७—कर्म-प्रकृतियो का बन्ध कहा गया है उन मे से उक्त १६—कर्म-प्रकृतियो को छोड़ कर शेष १०१—कर्म प्रकृतियो का बन्ध दूसरे गुणस्थान मे माना जाता है।

तिर्यञ्चत्रिकशब्द से तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्च-आनुपूर्वी और तिर्यञ्चआयु इन तीन कर्म-प्रकृतियो का ग्रहण होता है। स्त्यानर्द्धि-त्रिक शब्द से निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि इन तीन कर्म-प्रकृतियों का तथा दुर्भगत्रिक-शब्द से दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म इन तीन कर्म-प्रकृतियों का ग्रहण होता है। अनन्तानुवन्धि-चतुष्कशब्द, अनन्तानुवन्धिक्रोध, अनन्तानुवन्धिमान, अनन्तानुवन्धिमाया और अनन्तानुवन्धिलोभ इन चार कषायों का बोधक है। मध्यमसंस्थान-चतुष्कशब्द आदि के और अन्त के संस्थान को छोड़ मध्य के शेष चार संस्थानों का बोधक है। जैसे:—न्यग्रोधपरिमंडल-संस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान और कुब्जसंस्थान। इसी तरह मध्यम संहनन-चतुष्क शब्द से आदि और अन्त के संहनन के सिवा बीच के चार संहनन ग्रहण किये जाते हैं। वे चार संहनन ये हैं

ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन और कीलिकासहनन।

तिर्यञ्चत्रिक से लेकर स्त्रीवेदपर्यन्त जो २५–कर्म–प्रकृतियाँ ऊपर कही हुई हैं उनका बन्ध अनन्तानुबन्धि–कषाय के उदय से होता है। अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानक मे ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानो में नहीं। इसी से तिर्यञ्चत्रिक—आदि उक्त पचीस कर्म-प्रकृतियाँ भी दूसरे गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही बाँधी जा सकती हैं, परन्तु तीसरे आदि गुणस्थानो में नहीं बाँधी जा सकतीं। तीसरे गुणस्थान के समय जीव का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिस से उस समय आयु का बन्ध होने नहीं पाता। इसी से मनुष्य-आयु तथा देव-आयु इन दो आयुओं का बन्ध भी तीसरे गुणस्थानक मे नहीं होता। नरक-आयु तो नरकत्रिक—आदि पूर्वोक्त १६—कर्म-प्रकृतियो मे ही गिनी जा चुकी है तथा तिर्यञ्च-आयु भी तिर्यञ्चत्रिक—आदि पूर्वोक्त पचीस कर्म-प्रकृतियों मे आ जाती हैं। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान मे बन्धयोग्य जो १०१—कर्म–प्रकृतियाँ हैं उनसे में तिर्यञ्चत्रिक—आदि पूर्वोक्त २५—तथा मनुष्य आयु और देव-आयु कुल २७—कर्म-प्रकृतियों के घट जाने से शेष ७४ कर्म-प्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थानक मे बन्ध योग्य रहती हैं ॥४॥

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग बियकसाया।
उरल दुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअ कसायंतो ॥५॥

सम्यक्त्वे सप्तसप्तति जिनायुर्बन्धे, वज्रनरत्रिक द्वितीय कषाया
औदारिकद्विकान्तो देशे, सप्तषष्टिस्तृतीयकषायान्त. ॥६॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ, अथिर दुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्तव, नेइ सुराउं जयानिट्ठं ॥७॥

त्रिषष्टिः प्रमत्ते शोकारत्यस्थिर द्विकायशोऽसातम् ।
व्यवच्छिद्यंते षट्च सप्त वा नयति सुरायुर्यदा निष्ठाम् ॥७॥

गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधंतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावण्णा ज आहारग दुगं बंधे ॥८॥
एकोनषष्टिरप्रमत्ते सुरायुर्बध्नन् यदीहागच्छेत् ।
अन्यथाऽष्टपञ्चाशद्यदाऽऽहारक द्विकं वन्धे ॥८॥

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टिनामक चौथे गुणस्थान मे ७७ कर्म-प्रकृतियो का वन्ध हो सकता है । क्योंकि तीसरे गुणस्थान की वन्धयोग्य पूर्वोक्त ७४ कर्म-प्रकृतियो को, तथा जिननाम-कर्म, मनुष्य-आयु और देव-आयु को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव बॉध सकते है । देशविरति-नामक पॉचवें गुणस्थान मे ६७ कर्म-प्रकृतियो का वन्ध हो सकता है । क्योंकि—पूर्वोक्त ७७-कर्म-प्रकृतियो मे से वज्रऋषभनाराचसं-हनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणचारकषाय और औदारिकद्विक इन १० कर्म-प्रकृतियो का वन्ध-विच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे चौथे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो मे उन १० कर्म-प्रकृतियो का वन्ध नहीं होता। पॉचवें गुणस्थान के अंतिम-समय मे तीसरे चारकषायो का—अर्थात् प्रत्याख्यानावरण-कषाय की चार प्रकृतियो का वन्ध-विच्छेद हो जाता है॥ ६ ॥ अतएव पूर्वोक्त ६७-कर्म-प्रकृतियोमे से उक्त चार कषायो के घटजाने से शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का वन्ध प्रमत्त-संयत-नाम के छट्ठे गुणस्थान में हो सकता है। छट्ठे गुणस्थान के अंतिम समय मे शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्तिनामकर्म और असातवेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियो का वन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे उन छः कर्म-प्रकृतियो का वन्ध छट्ठे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो

मे नहीं होता। यदि कोई जीव छट्ठे गुणस्थान मे देव-आयु के वन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान मे पूरा कर देता है, तो उस जीव की अपेक्षा से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म-प्रकृतियाँ तथा देवआयु कुल ७-कर्म-प्रकृतियो का भी वन्ध-विच्छेद छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय मे माना जाता है ॥ ७ ॥

जो जीव छट्ठे गुणस्थान मे देव-आयु के वन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान मे समाप्त किये विना ही, सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है अर्थात्-छट्ठे गुणस्थान मे देव-आयु का वन्ध प्रारम्भ कर सातवें गुणस्थान मे ही उसे समाप्त करता है, उस जीव को सातवे गुणस्थान मे ५९-कर्म-प्रकृतियो का वन्ध होता है। इसके विपरीत जो जीव छट्ठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देव-आयु के वन्ध को, छट्ठे गुणस्थान मे ही समाप्त करता है—अर्थात् देव-आयु का वन्ध समाप्त करने के वाद ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है उस जीव को सातवें गुणस्थान मे ५८ कर्म-प्रकृतियो का वन्ध होता है; क्योंकि सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक का वन्ध भी हो सकता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—चोथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधा जा सकता है। तथा चौथे गुणस्थान मे वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्य-आयु को बाँधते है। और चतुर्थ-गुणस्थान-वर्ती मनुष्य तथा तिर्यञ्च देव-आयु को बाँधते हैं। इसी तरह चाथे गुणस्थान मे उन ७४ कर्म-प्रकृतियो का भी वन्ध हो सकता है, जिनका कि वन्ध तीसरे गुणस्थान मे होता है अत-एव सब मिलाकर ७७ कर्म-प्रकृतियों का वन्ध चौथे गुणस्थानक

में माना जाता है। अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायो का वन्ध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है, इससे आगे के गुणस्थानो मे नहीं होता, क्योंकि पञ्चम—आदि गुणस्थानो मे अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय नहीं होता। और कषाय के वन्ध के लिये यह साधारण नियम है कि जिस कषाय का उदय जितने गुणस्थानो मे होता है उतने गुणस्थानों मे ही उस कषाय का वन्ध हो सकता है। मनुष्यगति-मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्य-आयु ये तीन कर्म-प्रकृतियाँ केवल मनुष्य-जन्म मे ही भोगी जा सकती है। इसलिये उनका वन्ध भी चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है। क्योंकि पाँचवें—आदि गुण-स्थानो मे मनुष्य-भव्य-योग्य कर्म-प्रकृतियो का वन्ध नहीं होता। किन्तु देव-भव-योग्य कर्म-प्रकृतियो का ही वन्ध होता है। इस प्रकार वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन और औदारिकद्विक-अर्थात् औदारिक शरीर तथा औदारिक अङ्गोपाङ्ग इन तीनो कर्म-प्रकृतियो का वन्ध भी पाँचवें आदि गुणस्थानो में नहीं होता; क्योंकि वे तीन कर्म-प्रकृतियाँ मनुष्य के अथवा तिर्यञ्च के जन्म मे ही भोगने योग्य हैं और पञ्चम-आदि गुणस्थानो मे देव के भव मे भोगी जा सकें ऐसी कर्म-प्रकृतियो का ही वन्ध होता है। इस तरह चौथे गुणस्थान मे जिन ७७ कर्म प्रकृतियो का वन्ध होता है उनमे से वज्रऋषभ-नाराच-सहनन-आदि उक्त १०-कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ६७ कर्म-प्रकृतियों का ही वन्ध पाँचवे गुणस्थानक में होता है।

प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, प्रत्याख्यानावरण-मान, प्रत्याख्या-नावरणमाया और प्रत्याख्यानावरण-लोभ इन चार कषायों का

वन्ध पञ्चम गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानो मे नहीं होता; क्योंकि छठे आदि गुणस्थानों में उन कषायो का उदय ही नहीं है। इस लिये पॉचवें गुणस्थान की बन्ध योग ६७ कर्म प्रकृतियों में से, प्रत्याख्यानवरणक्रोध आदि उक्त चार कषायो को छोड़ कर शेष ६३ कर्म-प्रकृतियो का वन्ध छट्ठे गुणस्थानक मे माना जाता है।

सातवे गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के वन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं; और फिर सातवें गुणस्थान मे ही देव-आयु के बन्ध को समाप्त करते हैं। तथा दूसरे वे जो देव-आयु के वन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनो छट्ठे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवे गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय मे अरति, शोक, अस्थिर-नाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयश:कीर्तिनामकर्म और असातवेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का वन्धविच्छेद होता हे। और दूसरे प्रकार के जीवो को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय मे उक्त ६ कर्म प्रकृतियो तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियो का वन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छट्ठे गुणस्थान की वन्ध-योग्य ६३ कर्म-प्रकृतियो मे से अरति, शोक आदि उक्त ६ कर्म प्रकृतियो के घटा देने पर पहले प्रकार के जीवो के लिये सातवें गुणस्थान मे वन्ध योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियॉ शेष रहती हैं। और अरति, शोक आदि उक्त ६ तथा देव-आयु कुल ७ कर्म-प्रकृतियो के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवो के लिये सातवें गुणस्थान मे वन्ध-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियॉ शेष रहती

हैं। परन्तु आहारक शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग इन दो कर्म-प्रकृतियों को उक्त दोनों प्रकार के जीव सातवें गुणस्थान में बाँध सकते हैं। अतएव पहले प्रकार के जीवों की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में उक्त ५७ और २ कुल ५९ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है। दूसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा से उक्त ५६ और २ कुल ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सातवें गुणस्थान में माना जाता है॥ ६७॥ ८॥

अडवन्न अपुव्वाइंमि निद्द दुगतो छपन्न पणभागे।
सुर दुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा॥ ९॥

अष्टापञ्चाशदपूर्वादौ निद्राद्विकान्तः षट्पञ्चाशत् पञ्चभाग।
सुरद्विक पञ्चेन्द्रिय सुखगति त्रसनवकमौदारिकाद्विना तनू-पाङ्गानि॥ ९॥ ७॥

समचउरनिमिण जिणवण्ण अगुरुलहु चउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीस वंधो हासरई कुच्छभयभेओ॥ १०॥

समचतुरस्रनिर्माण जिनवर्णाऽगुरुलघुचतुष्कं षष्ठांशे त्रिंशदन्तः
चरमे षड्विंशतिबन्धो हास्यरतिकुत्साभयभेदः
अनियट्टि भागपणगे, इगेग हीणो दुवीसवीहबंधो।
पुम सजलण चउण्हं, कमेण छेओ सतरसुहुमे॥ १०॥
अनिवृत्ति भागपञ्चक, एकैकहीनो द्वाविंशतिविधबन्धः।
पुंसंज्वलन चतुर्णां क्रमेणच्छेदः सप्तदशसूक्ष्मे॥ ११॥

अर्थ—आठवें गुणस्थान के पहले भाग में, ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। दूसरे भाग से लेकर छट्ठे भाग तक पाँच भागों में ५६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद

पहले भाग के अन्त मे ही हो जाता है। इससे वे दो कर्म-प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के पहले भाग के आगे बाँधी नहीं जा सकतीं। तथा सुरद्विक (२) (देवगति देव आनुपूर्वी,) पञ्चेन्द्रियजाति, (३) शुभ विहायोगति (४) त्रसनवक (१३) (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय), औदारिक शरीर के सिवा चार शरीर नामकर्म, जैसे:—वैक्रियशरीरनामकर्म (१४), आहारक शरीरनामकर्म (१५), तैजसशरीरनामकर्म (१६), और कार्मण-शरीरनामकर्म (१७), औदारिक-अङ्गोपाङ्ग को छोड़ कर दो अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग (१८), तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग (१९), सम समचतुरस्रसस्थान (२०), निर्माणनामक (२१) तीर्थङ्करनाम-कर्म (२२), वर्ण (२३), गन्ध (२४), रस (२५), और स्पर्शनामकर्म (२६), अगुरुलघुचतुष्क, जैसे:—अगुरुलघुनाम-कर्म (२७), उपघातनामकर्म, (२८), पराघातनामकर्म (३०), ये नाम कर्म की (३०) प्रकृतियाँ आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक ही बाँधी जाती हैं; इससे आगे नहीं। अतएव पूर्वोक्त ५६—कर्म-प्रकृतियो में से नाम-कर्म की इन ३०—प्रकृतियों के घटा देने पर शेष २६—कर्म-प्रकृतियो का ही बन्ध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग होता है। हास्य, रति, जुगुप्सा और भय इन नौ—कषाय—मोहनीयकर्म की चार प्रकृतियो का बन्ध-विच्छेद आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अन्तिम समय मे ही जाता है। इससे उन ४ प्रकृतियो का बन्ध नववें आदि गुणस्थानो में नहीं होता ॥ १० ॥

अतएव पूर्वोक्त २६—कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि उक्त

चार प्रकृतियों को घटा कर शेष २२—कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नववें गुणस्थान के पहले भाग में होता है। पुरुषवेद, संज्वलन-क्रोध, संज्वलन-मान, संज्वलन-माया और संज्वलन-लोभ इन पाँच प्रकृतियों में से एक एक प्रकृति का बन्ध-विच्छेद क्रमशः नववें गुणस्थान के पाँच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय में होता है, जैसे—पूर्वोक्त २२—कर्म-प्रकृतियों में से पुरुष वेद का बन्ध-विच्छेद नववें गुणस्थान के पहले भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे शेष २१—कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दूसरे भाग में हो सकता है। इन २१—कर्म प्रकृतियों में से संज्वलन-क्रोध का बन्ध-विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे शेष २०—कर्म प्रकृतियों का बन्ध तीसरे भाग में हो सकता है। इन २०—कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन-मान का बन्ध तीसरे भाग के अन्तिम समय तक ही हो सकता है, आगे नहीं; इसी से शेष १९—कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, चौथे भाग में होता है। तथा इन १९—कर्म प्रकृतियों में से संज्वलन-माया चौथे भाग के अन्तिम समय तक ही बाँधी जाती है, आगे नहीं। अतएव शेष १८—कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नववें गुणस्थान के पांचवें भाग में होता है। इस प्रकार इन १८—कर्म-प्रकृतियों में से भी सञ्वजन लोभ का बन्ध नववें गुणस्थान के पाचवें भाग पर्यन्त ही होता है, आगे दसवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता। अतएव उन १८—कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन लोभ को छोड़ कर शेष १७—कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दसवें गुणस्थान में होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता। यद्यपि सातवें

गुणस्थान मे ५६ कर्म-प्रकृतियो के बन्ध का भी पक्ष ऊपर कहा गया है और उसमे देव-आयु की गणना की गई है, तथापि यह समझना चाहिये कि छट्ठे गुणस्थान मे प्रारम्भ किये हुए देव-आयु के बन्ध की सातवे गुणस्थान मे जो समाप्ति होती है उसी की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियो मे देव-आयु की गणना की गई है। सातवें गुणस्थान मे देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता और आठवे आदि गुणस्थानो मे तो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ और समाप्ति दोनो नहीं होते। अतएव देव-आयु को छोड़ ५८ कर्म-प्रकृतिया आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में वन्ध-योग मानी जाती हैं। आठवे तथा नववें गुणस्थान की स्थिति अन्तमुहूर्त्त प्रमाण है। आठवे गुणस्थान की स्थिति के सात भाग होते है। इन मे से प्रथम भाग में दूसरे से लेकर छट्ठे तक पांच भागो मे, और सातवें भाग मे जितनी जितनी कर्म-प्रकृतियो का बन्ध होता है; वह नववीं तथा दसवीं गाथा के अर्थ मे दिखाया गया है। इस प्रकार नववें गुणस्थान की स्थिति के पॉच भाग होते हैं। उनमे से प्रत्येक भाग मे जो बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियों हैं, उनका कथन ग्यारहवीं गाथा के अर्थ मे कर दिया गया है॥ ६॥ १० ११॥

चउदंसणुच्चजसनाण विग्घदसगंति सोल सुच्छेओ।
तिसु सायबंध छेओ सजोगिबंधंतु णंतो अ॥ १२॥
(चतुर्दर्शनोच्चयशोज्ञानविघ्नदशकमिति षोडशोच्छेदः।
त्रिषु सातबन्धच्छेदः सयोगिनि बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च॥ १२॥)

अर्थ—दसवे गुणस्थान की बन्ध-योग्य १७ कर्म-प्रकृतियो मे मे ४-दर्शनावरण, उच्चगोत्र, यशःकीर्त्तिनामकर्म,

५-ज्ञानावरण और ५-अन्तराय इन १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्त मे होता है। इससे केवल सातवेदनीय कर्म-प्रकृति शेष रहती है। उस का बन्ध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे होता है। तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम-समय में सातवेदनीय का बन्ध भी रुक जाता है इससे चौदहवें गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता। अर्थात्—अबन्धक अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार जिन जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का जहां जहां अन्त (विच्छेद) होता है और जहां जहां अन्त नहीं होता; उसका वर्णन हो चुका ॥१२॥

भावार्थ—४-दर्शनावरण आदि जो १६ कर्म-प्रकृतियां ऊपर दिखाई गई हैं उनका बन्ध कषाय के उदय से होती है और दसवे गुणस्थान से आगे कषाय का उदय नहीं होता; इसी से उक्त सोलह कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी दसवें गुणस्थान तक ही होता है। यह सामान्य-नियम है कि कषाय का उदय कषाय के बन्ध का कारण होता है और दसवे गुणस्थान मे लोभ का उदय रहता है। इसलिये उस गुणस्थान मे उक्त नियम के अनुसार लोभ का बन्ध होना चाहिये। ऐसी शङ्का यद्यपि हो सकती है; तथापि इसका समाधान यह है कि स्थूल-लोभ के उदय से लोभ का बन्ध होता है, सूक्ष्म-लोभ के उदय से नहीं। दसवे गुणस्थान मे तो सूक्ष्म-लोभ का ही उदय रहता है। इसलिये उस गुणस्थान में लोभ का बन्ध माना नहीं जाता।

ग्यारहवे आदि तीन गुणस्थान मे सात वेदनीय का बन्ध होता है, सो भी योग के निमित्त से; क्योंकि उन गुणस्थानों में

कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतएव योग-मात्र से होनेवाला वह सात-वेदनीय का बन्ध, मात्र दो समयों की स्थिति का ही होता है।

चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाता है, इसी से सात-वेदनीय का बन्ध भी उस गुणस्थान में नहीं होता, और अबन्धकत्व-अवस्था प्राप्त होती है। जिन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है। और उतने कारणों में से किसी एक कारण के कम हो जाने से भी, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। शेष सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। जैसे—नरक-त्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त रहते हैं इसलिये उक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी उस समयपर्यन्त हो सकता है, परन्तु पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व आदि उक्त चार कारणों में से मिथ्यात्व नहीं रहता, इससे नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान से आगे नहीं होता; और सर्व कर्म-प्रकृतियों का बन्ध यथासम्भव होता ही है। इस प्रकार दूसरी २ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का अन्त (विच्छेद) और अन्ताभाव (विच्छेदाभाव) ये दोनों, बन्ध के हेतु के विच्छेद और अविच्छेद पर निर्भर हैं ॥१२॥

बन्धाधिकार समाप्त ॥

—————

उदयाधिकार

पहले उदय और उदीरणा का लक्षण कहते हैं, अनन्तर प्रत्येकगुणस्थान में जितनी २ कर्म-प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है उनको बारह गाथाओं से दिखाते हैं

उदओ विवाग-वेयण मुदीरण मपत्ति इह दुवीससयं ।
सतर-सयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणणुदया ॥१३॥

उदयो विपाक-वेदन मुदीरण मप्राप्त इह द्वाविंशति-शतम् ।
सप्तदश-शतं मिथ्यात्वे मिश्र—सम्यगाहारक-जिनानुदयात् १३

अर्थ—विपाक का समय प्राप्त होने पर ही कर्म के विपाक (फल) को भोगना उदय कहाता है। और विपाक का समय प्राप्त न होने पर कर्म फल को भोगना उसे 'उदीरणा' कहते हैं। उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ १२२ हैं। उन में से ११७ कर्म-प्रकृतियो का उदय पहले गुणस्थान में हो सकता है क्योंकि १२२ में से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय, आहारक-शरीर, आहारक-अङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करनाम-कर्म इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता ॥ १३ ॥

भावार्थ—आत्मा के साथ लगे हुए कर्म—दलिक, नियत-समय पर अपने शुभाशुभ—फलों का जो अनुभव कराते हैं वह "उदय" कहाता है। कर्म—दलिकों को प्रयत्न—विशेष से खींचकर नियत—समय के पहले ही उन के शुभाशुभ—फलों

को भोगना, "उदीरणा" कहाती है। कर्म के शुभाशुभ-फल के भोगने का ही नाम उदय तथा उदीरणा है, किन्तु दोनो मे भेद इतना ही है कि एक मे प्रयत्न के विना ही स्वाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और दूसरे मे प्रयत्न के करने पर ही फल का भोग होता है। कर्म-विपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने का अभिप्राय यह है कि प्रदेशोदय, उदयाधिकार मे इष्ट नहीं है।

तीसरी गाथा के अर्थ मे बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं, वे तथा मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय ये दो, कुल १२२ कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग तथा उदीरणा-योग्य मानी जाती हैं।

बन्ध केवल मिथ्यात्व-मोहनीय का ही होता है, मिश्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्व-मोहनीय का नहीं। परन्तु वही मिथ्यात्व; जब परिणाम-विशेष से अर्द्धशुद्ध तथा शुद्ध हो जाता है तब मिश्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्व-मोहनीय के रूप मे उदय मे आता है। इसीसे उदय में ये दोनो कर्म-प्रकृतियों बन्ध की अपेक्षा अधिक मानी जाती हैं।

मिश्र-मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान मे ही होता है। सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक हो सकता है। आहारक-शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय छट्ठे या सातवें गुणस्थान मे ही हो सकता है। तीर्थङ्कर-नामकर्म का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही हो सकता है। इसीसे मिश्र-मोहनीय आदि उक्त पाँच कर्म-प्रकृतियो को छोड़ शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान मे यथासम्भव माना जाता है १३

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगार-सयं ।
निरयाणुपुव्वि णुदया अण-थावर-इग विगल-अंतो ॥ १४ ॥
सूक्ष्म-त्रिकातप-मिथ्यं मिथ्यान्त सास्वादन एकादश-शतम् ।
निरयानुपूर्व्यनुदया दनस्थावरैकविकलान्त. ॥१४॥
मीसे सयमणुपुव्वी-णुदयामीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजएसम्माणुपुव्वि-खवा बिय-कसाया ॥ १५ ॥
मिश्रे शत मानुपूर्व्यनुदयान्मिश्रोदयेन मिश्रान्तः ।
चतुःशतमयते सम्यगानुपूर्वीक्षेपाद्द्वितीयकपायाः ॥ १५ ॥
मणुतिरिणु पुव्विविउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइ आउ निउज्जोय तिकसाया ॥ १६ ॥
मनुज-तिर्य्यगानुपूर्वी-वैक्रियाष्टकदुर्भगमनादेयद्विकंसप्तदशच्छेद
सप्ताशीतिर्देशे तिर्यग्गत्यायुर्नीचोद्योत-तृतीय-कषायाः १६
अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगा हारग-दुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥
अष्टच्छेद एकाशीति. प्रमत्ते आहारक-युगलप्रक्षेपात् ।
स्त्यानर्द्धित्रिकाहारक-द्विकच्छेदः षट् सप्तति रप्रमत्ते ॥१७॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान मे १११ कर्म-प्रकृतियो का उदय होता है; क्योंकि जिन ११७ कर्म-प्रकृतियो का उदय पहले गुणस्थान मे होता है उनमे से सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म और साधारणनामकर्म) आतपनामकर्म मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानुपूर्वी—इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान मे वर्तमान-जीवो को नहीं होता। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, स्थावरनामकर्म, एकेन्द्रिय-जातिनामकर्म, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जातिनामकर्म ॥१४॥ और शेष आनुपूर्वी तीन अर्थात् तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुजानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन १२ कर्म-प्रकृतियों का उदय

तीसरे गुणस्थान के समय नहीं होता; परन्तु मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय होता है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान की उदय-योग्य १११ कर्म-प्रकृतियों मे से अनन्तानुवन्धी चार कषाय आदि उक्त १२ कर्म-प्रकृतियो के घट जाने पर, शेप जो ९९ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं उनमे मिश्र-मोहनीयकर्म मिलाकर कुल १०० कर्म-प्रकृतियो का उदय तीसरे गुणस्थान मे स्थित जीवों को हो सकता है।

चौथे गुणस्थान मे वर्तमान, जीवों को १०४ कर्म-प्रकृतियो का उदय हो सकता है क्योंकि जिन १०० कर्म-प्रकृतियो का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है उनमे से केवल मिश्र-मोहनीय-कर्म का ही उदय चौथे गुणस्थान मे नहीं होता, शेप ९९ कर्म-प्रकृतियों का उदय तो होता ही है। तथा सम्यक्त्वमोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वियो के उदय का भी सम्भव है। अप्रत्याख्यानावरण चार कपाय ॥ १५ ॥ मनुष्य–आनुपूर्वी (५) तिर्यञ्च-आनुपूर्वी (६) वैक्रिय-अष्टक (देवगति, देव आनुपूर्वी, नरकगति, नरक-आनुपूर्वी, देव–आयु, नरक–आयु, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग (१४) दुर्भगनामकर्म (१५) और अनादेयद्विक (अनादेयनामकर्म तथा अयशःकीर्त्तिनामकर्म) (१७) इन सत्रह कर्म–प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य (१०४) कर्म–प्रकृतियों मे से घटा देने पर, शेप (८७) कर्म–प्रकृतियाँ रहती है। उन्हीं (८७) कर्म-प्रकृतियो का उदय पाँचवें गुणस्थान में होता है।

उक्त ८७ कर्म–प्रकृतियो मे से तिर्यञ्चगति (१) तिर्यञ्च-आयु (२) नीचगोत्र (३) उद्योतनामकर्म (४) और प्रत्याख्याना-वरण चार कपाय (८) ॥१६॥

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से, शेष (७६) कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमे आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल हुई (८१) कर्म-प्रकृतियाँ। छट्ठे गुणस्थान में इन्हीं (८१) कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवे गुणस्थान से ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहरकद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है, आगे के गुणस्थानों मे नहीं ॥१७॥

भावार्थ—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूप से पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर पृथ्वी-कायिक जीव को ही होता है सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही, पहले नहीं। परन्तु सास्वादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वी-काय मे जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसास्वादन सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी कायिक-जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है तब आतपनामकर्म के उदय का सम्भव नहीं और जिस

समय आतपनामकर्म्म का सम्भव होता है उस समय उनको सास्वादन सम्यक्त्व का सम्भव नहीं है। तथा मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान मे ही होता है किन्तु सास्वादन सम्यक्त्व पहले गुणस्थान के समय, कदापि नहीं होता। इससे मिथ्यात्व के उदय का और सास्वादन सम्यक्त्व का किसी भी जीव मे एक समय मे होना असम्भव है। इसी प्रकार नरक-आनुपूर्वी का उदय, वक्रगति से नरक मे जाने वाले जीवो को होता है। परन्तु उन जीवो को उस अवस्था मे सास्वादन-सम्यक्त्व नहीं होता। इससे नरक-आनुपूर्वी का उदय और सास्वादन-सम्यक्त्व इन दोनो का किसी भी जीव में एक साथ होना असम्भव है। अतएव सास्वादन-सम्यग्दृष्टिनामक दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्म-नामकर्म से लेकर नरक-आनुपूर्वीपर्यन्त ६—कर्म-प्रकृतियों के उदय का निपेध किया है, और पहले गुणस्थान की उदय योग्य ११७ कर्म, प्रकृतियो मे से उक्त ६—प्रकृतियो को छोड़ कर, शेप १११ कर्म-प्रकृतियो का उदय दूसरे गुणस्थान के समय माना गया है। अनन्तानुवन्धी-कपाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है, आगे के गुणस्थानो मे नहीं। तथा स्थावर-नामकर्म-एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म और चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म के उदय वाले जीवो में, तीसरे गुणस्थान से लेकर आगे का कोई भी गुणस्थान नहीं होता। क्योंकि स्थावर-नामकर्म का और एकेन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवो को होता है। तथा द्वीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय द्वीन्द्रियो को: त्रीन्द्रियजाति नामकर्म का उदय त्रीन्द्रियो को और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय चतुरिन्द्रियो को होता है परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त के जीवो मे पहला या दूसरा दो ही गुणस्थान हो सकते हैं। आनु-

पूर्वी का उदय जीवों को उसी समय मे होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है, इससे आनुपूर्वी-नाम-कर्म के उदय वाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११-कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमे से अनन्तानुबन्धि-कषाय-आदि पूर्वोक्त १२—कर्म-प्रकृतियों को छोड़ देने से ६६—कर्म-प्रकृतियाँ उदय योग्य रहती हैं। मिश्रमोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान मे अवश्य ही होता है। इसीलिये, उक्त ६६ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००—कर्म-प्रकृतियों का उदय उस गुणस्थान मे माना जाता है। तीसरे गुणस्थान मे जिन १००—कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है उनमे से मिश्रमोहनीय के सिवा, शेष ६६ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती जीवों को हो सकता है। तथा चतुर्थगुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी-नामकर्मों के उदय का सम्भव है, इसीलिये पूर्वोक्त ६६ और सम्यक्त्व-मोहनीय—आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान मे वर्तमानजीवों का माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों मे ही समझना चाहिये, पाँचवे आदि गुणस्थानो मे नहीं। तथा पाँचवे से लेकर आगे के गुणस्थान, मनुष्यों और तिर्यञ्चों मे यथासम्भव

हो सकते है; देवों तथा नारकों मे नहीं। मनुष्य और तिर्यञ्च भी आठ वर्ष की उम्र होने के बाद ही, पञ्चम—आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं; पहले नहीं। परन्तु आनुपूर्वी का उदय वक्रगति के समय ही होता है इसलिये, किसी भी आनुपूर्वी के उदय के समय जीवों मे पञ्चम—आदि गुणस्थान असम्भव है, नरक गति तथा नरक-आयु का उदय नारको को ही होता है; देवगति तथा देवआयु का उदय देवों मे ही पाया जाता है; और वैक्रिय-शरीर तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय देव तथा नारक दोनो मे होता है। परन्तु कहा जा चुका है कि देवों और नारको मे पञ्चम—आदि-गुणस्थान नहीं होते। इस प्रकार दुर्भग-नाम-कर्म अनादेय-नामकर्म और अयशःकीर्त्तिनामकर्म, ये तीनों प्रकृतियाँ, पहले चार गुणस्थानो में ही उदय को पा सकते हैं; क्योंकि पञ्चम—आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने पर, जीवों के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उस समय, उन तीन प्रकृतियों का उदय हो ही नहीं सकता। अतएव चौथे गुणस्थान मे उदय योग्य जो १०४ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनम से अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क—आदि पूर्वोक्त १७ कर्म प्रकृतियों को घटा कर, शेष ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान मे माना जाता है। पञ्चम-गुणस्थान-वर्ती मनुष्य और तिर्यञ्च दोनो ही, जिनको कि वैक्रियलब्धि प्राप्त हुई है, वैक्रियलब्धि के बलसे वैक्रियशरीर को तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग को बना सकते हैं। इसी तरह छट्ठे गुणस्थान मे वर्तमान वैक्रियलब्धि सम्पन्न मुनि भी वैक्रिय-शरीर तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग को बना सकते हैं। उस समय उन मनुष्यों को तथा तिर्यञ्चों को, वैक्रियशरीरनाम-कर्म का तथा

वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय अवश्य रहता है इसलिये, यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि पाँचवें तथा छट्ठे गुणस्थान की उदय-योग्य प्रकृतियों में वैक्रिय शरीर-नाम कर्म तथा वैक्रिय अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म इन दो प्रकृतियो की गणना क्यो नहीं की जाती है? तथापि इस का समाधान इतना ही है कि जिनको जन्मपर्यन्त वैक्रिय शरीर-नामकर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय रहता है उनकी (देव तथा नारको की) अपेक्षा से ही उक्त दो प्रकृतियो के उदय का विचार इस जगह किया गया है। मनुष्यो में और तिर्यञ्चों मे तो कुछ समय के लिये ही उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, सो भी सब मनुष्यो और तिर्यञ्चो में नहीं। इसी से मनुष्यो और तिर्यञ्चो की अपेक्षा से पाँचवे तथा छट्ठे गुणस्थान मे, उक्त दो कर्म-प्रकृतियो के उदय का सम्भव होने पर भी, उसकी विवक्षा नहीं की है।

•

जिन ८७ कर्म-प्रकृतियो का उदय पाँचवें गुणस्थान मे माना जाता है उनमे से तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु, नीचगोत्र, उद्योत-नामकर्म और प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन ८ कर्म प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ७९—कर्म-प्रकृतियों का उदय, छट्ठे गुणस्थान में हो सकता है। तिर्यञ्च गति—आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों का उदय, पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है, आगे नहीं। इसका कारण यह है कि, तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु और उद्योत नामकर्म इन तीन प्रकृतियो का उदय तो तिर्यञ्चों को ही होता है परन्तु तिर्यञ्चों मे पहले पाँच गुण-स्थान ही हो सकते है, आगे के गुणस्थान नहीं। नीच गोत्र-का

उदय भी मनुष्यों को चार गुणस्थान तक ही हो सकता है।
पंचम—आदि-गुणस्थान प्राप्त होने पर, मनुष्यों मे ऐसे गुण प्रकट होते हैं कि जिनसे उनमे नीच-गोत्र का उदय हो ही नहीं सकता और उच्च-गोत्र का उदय अवश्य हो जाता हे। परन्तु तिर्यञ्चों को तो अपने योग्य सव गुणस्थानों में—अर्थात् पाँचों गुणस्थानो मे स्वभाव से ही नीचगोत्र का उदय रहता है, उच्च-गोत्र का उदय होता ही नहीं। तथा प्रत्याख्यानावरण चार कषायों का उदय जव तक रहता है तव तक छट्ठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती; और छट्ठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के वाद भी प्रत्याख्यानावरणकपायों का उदय हो नहीं सकता। इस प्रकार तिर्यञ्च-गति—आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों के विना जिन ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान मे होता है उनमे आहारक-शरीर-नामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, ये दो प्रकृतियाँ और भी मिलानी चाहिये जिससे छट्ठे गुणस्थान मे उदययोग्य कर्म प्रकृतियाँ ८१ होती हैं। छट्ठे गुणस्थान मे आहारकशरीर-नामकर्म का तथा अहारक अङ्गापाङ्ग-नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है जिस समय कि कोई चतुर्दशपूर्वधर-मुनि, लब्धि के द्वारा आहारक-शरीर की रचना कर उसे धारण करते हैं। जिस समय कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि, लब्धि से वैक्रिय-शरीर को वनाकर उसे धारण करता हे उस समय उसको उद्द्योत-नामकर्म का उदय होता है। क्योंकि शास्त्र मे इस आशय का कथन पाया जाता हे यति को वैक्रिय शरीर धारण करते समय और देव को उत्तर-वैक्रिय-शरीर धारण करते समय उद्द्योत-नामकर्म का उदय होता है। अव इस जगह यह शङ्का हो सकती है कि जव वैक्रिय-शरीरियति की अपेक्षा से छट्ठे गुणस्थान मे भी उद्द्योत

नामकर्म का उदय पाता जाता है तब पाँचवें गुणस्थान तक ही उसका उदय क्यों माना जाता है? परन्तु इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि जन्म के स्वभाव से उद्द्योत-नामकर्म का जो उदय होता है वही इस जगह विवक्षित है, लब्धि के निमित्त से होनेवाला उद्द्योत-नामकर्म का उदय विवक्षित नहीं है। छट्ठे गुणस्थान में उदययोग्य जो ८१ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से स्त्यानर्द्धि-त्रिक और आहारक-द्विक इन पाँच कर्म-प्रकृतियो का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिय का उदय प्रमादरूप है, परन्तु छट्ठे से आगे किसी गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। इस प्रकार आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय, आहारक-शरीर रचनेवाले मुनि को ही होता है। परन्तु वह मुनि लब्धि का प्रयोग करने वाला होने से अवश्य ही प्रमादी होता है। जो लब्धि का प्रयोग करता है वह उत्सुक हो ही जाता है। उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ। एकाग्रता के भंग को ही प्रमाद कहते हैं इसलिये, आहारक-द्विक का उदय भी छठे गुणस्थान तक ही माना जाना है। यद्यपि आहारक शरीर वना लेने के बाद कोई मुनि विशुद्धि। अध्यवसाय से फिर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं, तथापि ऐसा वहुत कम होता है इसलिये इसकी विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। इसी से सातवें गुणस्थान में आहा-रक-द्विक के उदय को गिना नहीं है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

सम्मत्ततिमसंघयण तियगच्छेओ विसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥ १८ ॥

सम्यक्त्वान्तिमसंहननत्रिककच्छेदो द्वासप्ततिरपूर्वे।

हास्यादिषट्कान्तः षट्षष्टिरनिवृत्तौ वेदत्रिकम् ॥ १८ ॥
संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहुमंमि तुरयलोभंतो।
उवसंत गुणे गुणसट्ठि रिसहनाराय दुगअंतो ॥ १६ ॥
संज्वलनत्रिकं षट्छेदः षष्टिः सूक्ष्मे तुरयलोभान्तः।
उपशान्तगुण एकोनषष्टि ऋषभनाराचद्विकान्तः ॥ १६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व-मोहनीय और अन्त के तीन संहनन इन ४ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाता है। इससे सातवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७६ कर्म-प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय-आदि उक्त चार कर्म-प्रकृतियों को घटा देने पर, शेष ७२ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान मे रहता है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगप्सा इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे नहीं। इससे आठवे गुणस्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियों मे से हास्य-आदि ६ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का ही उदय नववें गुणस्थान में रह जाता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद नपुंसकवेद ॥ १८ ॥ संज्वलन क्रोध, संज्वसन-मान और संज्वलन माया इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय, नववे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इससे नववें गुणस्थान की उदय-योग्य ६६ कर्म-प्रकृतियों मे से स्त्रीवेद आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय दसवें गुणस्थान मे होता है। संज्वलन-लोभ का उदय-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे होता है। इससे दसवें गुणस्थान मे जिन ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उन में से एक संज्वलन-लोभ के विना शेष ५६ कर्म-प्रकृतियों का

उदय ग्यारहवें गुणस्थान मे हो सकता है। इन ५९ कर्म-प्रकृतियो में से ऋषभनाराचसंहनन और नाराचसहनन इन दो कर्म-प्रकृतियो का उदय, ग्यारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त ही होता है॥ १९॥

भावार्थ—जो मुनि, सम्यक्त्वमोहनीय का उपशम या क्षय करता है वही सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो को पा सकता है, दूसरा नहीं। इसी से ऊपर कहा गया है कि सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक मे सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार अर्ध-नाराच, कीलिका और सेवार्त इन तीन अन्तिम सहननो का उदय-विच्छेद भी सातवें गुणस्थान के अन्त तक हो जाता है—अर्थात् अन्तिम तीन संहननवाले जीव, सातवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते। इसका कारण यह है कि जो श्रेणि कर सकते हैं वे ही आठवें आदि गुणस्थानो को प्राप्त कर सकते है परन्तु श्रेणि को प्रथम तीन सहनन वाले ही कर सकते हैं, अन्तिम तीन सहनन वाले नहीं। इसी से उक्त सम्यक्त्व-मोहनीय आदि ४ कर्म-प्रकृतियो को सातवें गुणस्थान की ७६ कर्म प्रकृतियो मे से घटाकर शेष ७२ कर्म–प्रकृतियों का उदय आठवे गुणस्थान मे माना जाता है।

नववे गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो मे अध्यवसाय इतने विशुद्ध हो जाते हैं कि जिस से गुणस्थानो मे वर्तमान जीवो को हास्य, रति आदि उपर्युक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होने नहीं पाता। अतएव कहा गया है कि आठवें गुण स्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियो मे से हास्य-आदि ६ प्रकृतियों को छोड़

-कर शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का नववें गुणस्थान में हो -सकता है।

नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है। परन्तु अध्यवसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है, इससे तीन वेद और सञ्ज्वलन-त्रिक, कुल ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव दसवें गुणस्थान में उदय-योग्य प्रकृतियाँ ६० ही रहती हैं। नववे गुणस्थान वेदत्रिक-आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद इस प्रकार होता है—यदि श्रेणि का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद के पीछे पुरुष-वेद के अनन्तर नपुसक-वेद के उदय का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को रोकती है। श्रेणि का प्रारम्भ करने वाला यदि पुरुष होता है तो वह सब से पहले पुरुष-वेद के पीछे स्त्रीवेद के अनन्तर नपुन्सकवेद के उदय को रोक कर क्रमश सञ्ज्वलन-त्रिक के उदय का विच्छेद करता है और श्रेणि को करने-वाला यदि नपुन्सक है तो सबसे पहले वह नपुसक-वेद के उदय को रोकता है, इसके बाद स्त्रीवेद के उदय को तत्पश्चात् पुरुष-वेद के उदय को रोक कर क्रमश सञ्ज्वलन-त्रिक के उदय को बन्द कर देता है।

दसवें गुणस्थान मे ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय हो -सकता है। इनमें से संज्वलन लोभ का उदय, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इसी से संज्वलन-लोभ को छोड कर शेष ५६ कर्म-प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान मे माना जाता है॥ १८॥ १६॥

सगवन्न खीण-दुचरिमि निद्दुगंतो अ चरिमि पणवन्ना।
नाणंतरायदंसण-चउछेओ सजोगि बायाला ॥ २० ॥
सप्तपञ्चाशत् क्षीणद्विचरमे निद्राद्विकान्तश्च चरमे पञ्चपञ्चाशत्।
ज्ञानान्तरायदर्शनचतुश्छेदः सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ॥ २० ॥

अर्थ—बारहवे गुणस्थान में ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय रहता है। ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त—अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय-पर्यन्त पाया जाता है, क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय अन्तिम समय मे नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म-प्रकृतियों मे से निद्रा और प्रचला को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे होता है। ज्ञानावरणकर्म की ५, अन्तरायकर्म की ५ और दर्शनावरणकर्म की ४—कुल १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय-पर्यन्त ही होता है, आगे नहीं। इससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से ४१ कर्म प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान से लेकर तीर्थङ्कर-नामकर्म के उदय का भी सम्भव है। इसलिये पूर्वोक्त ४१ और तीर्थङ्कर नामकर्म, कुल ४२ कर्म प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनको ऋषभनाराच-संहनन का या नाराच संहनन का उदय रहता है वे उपशम-श्रेणि को ही कर सकते हैं। उपशम-श्रेणि करने वाले, ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त ही चढ़ सकते हैं; क्योंकि क्षपकश्रेणि किये बिना बारहवें गुणस्थान-

की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षपक-श्रेणि को वे ही कर सकते हैं जिनको कि वज्र-ऋषभनाराच-संहनन का उदय होता है। इसी से ग्यारहवें गुणस्थान की उदय-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियों में से ऋषभनाराच और नाराच दो संहननों को घटाकर शेष ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान में माना जाता है। इन ५७ कर्म-प्रकृतियों में से भी निद्रा का तथा प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नहीं होता। इससे उन दो कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है। ज्ञानावरण ५, अन्तराय ५ और दर्शनावरण ४, सब मिलाकर १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के निकल जाने से शेष ४१ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करने वालों में जो तीर्थङ्कर होने वाले होते हैं उनको तीर्थङ्करनामकर्म का उदय भी हो जाता है। अतएव पूर्वोक्त ४१ और तीर्थङ्करनामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान में उदय को पा सकती हैं ॥ २० ॥

तित्थुदया उरलाथिरखगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा।
अगुरुलहुवन्नचउ-निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥

तीर्थोदयादौदारिकास्थिरखगतिद्विकप्रत्येकत्रिकषट्संस्थानानि
अगुरुलघुवर्णचतुष्कनिर्माणतेजःकर्मादिसंहननम् ॥२१॥

दूसरसूसरसायासाएगयरं च तीस-वुच्छेओ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥२२॥

दुस्वरसुस्वरसातासातैकतरं च त्रिंशद्व्युच्छेदः ।
द्वादशायोगिनि सुभगादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥२२॥

तसनिग पणिंदि मणुयाउ गइजिणुच्चंति चरम-समयंतो ।
त्रसत्रिकपञ्चेन्द्रियमनुजायुर्गतिजिनोच्चमिति चरमसमयान्तः ॥

अर्थ—औदारिक-द्विक (औदारिक-शरीरनामकर्म तथा—औदारिक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) २, अस्थिर-द्विक (अस्थिरनामकर्म अशुभनामकर्म) ४, खगति-द्विक (शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म) ६, प्रत्येक-त्रिक (प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म) ९, समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमडल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्ड—ये छः संस्थान १५, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनामकर्म, उपघातनामकर्म, पराघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म) १९, वर्ण-चतुष्क (वर्णनामकर्म, गंधनामकर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनामकर्म) २३, निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५, कार्मणशरीरनाम कर्म २६, प्रथम-संहनन (वज्रऋषभनाराचसंहनन) २७ ॥२१॥

दुःस्वरनामकर्म २८, सुस्वरनामकर्म २९ और सातवेदनीय तथा असातवेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०—ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक ही उदय को पा सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान मे नहीं। अतएव पूर्वोक्त ४२ में से इन ३० कर्म प्रकृतियों के घट जाने पर शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। वे १२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशः कीर्तिनामकर्म, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियो मे से कोई एक त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म और

पर्याप्तनामकर्म), पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, मनुष्य-आयु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनामकर्म और उच्चगोत्र—इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक रहता है।

भावार्थ—चौदहवें गुणस्थान मे किसी भी जीव को वेदनीयकर्म की दोनो प्रकृतियो का उदय नहीं होता। इसलिये जिस जीव को उन दो में से जिस प्रकृति का उदय, चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस जीव को उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदय विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाता है। औदारिक-द्विक-आदि उक्त तीस प्रकृतियों मे से वेदनीयकर्म की अन्यतर प्रकृति के सिवा शेष २९ कर्म-प्रकृतियाँ पुद्गल-विपाकिनी (पुद्गल द्वारा विपाक का अनुभव कराने वाली) हैं इनमे से सुस्वरनामकर्म और दुःस्वरनामकर्म—ये दो प्रकृतियाँ भापा-पुद्गल-विपाकिनी हैं। इस से जब तक वचन-योग की प्रवृत्ति रहती है और भापा-पुद्गलों का ग्रहण तथा परिणमन होता रहता है तभी तक उक्त दो प्रकृतियो का उदय हो सकता है। शेप २७ कर्म-प्रकृतियाँ शरीर-पुद्गल-विपाकिनी हैं इस लिये उनका भी उदय तभी तक हो सकता है जब तक कि काययोग के द्वारा पुद्गलो का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन किया जाता है। तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में ही योगो का निरोध हो जाता है। अतएव पुद्गल-विपाकिनी उक्त २९ कर्म-प्रकृतियों का उदय भी उसी समय मे रुक जाता है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में जिन ४२ कर्म-प्रकृतियो का उदय हो सकता है, उनमे से अन्यतरवेदनीय और उक्त २९ पुद्गल-विपाकिनी—कुल ३०

कर्म-प्रकृतियो को घटा देने से शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। इन १२ कर्म-प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। इसके रुक जाते ही जीव, कर्म-मुक्त होकर पूर्ण सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष को चला जाता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

इति

❀ उदयाधिकार समाप्त ❀

गुणस्थानो मे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि वेदनीय-द्विक की तथा आयु की उदीरणा हो सके। इससे सातवें आदि गुणस्थानों मे उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियो की संख्या इस प्रकार होती है—सातवें गुणस्थान में उदय ७६ प्रकृतियो का और उदीरणा ७३ प्रकृतियों की। आठवें गुणस्थान में उदय ७२ प्रकृतियो का और उदीरणा ६९ प्रकृतियो की। नववें गुणस्थान मे उदय ६६ कर्म-प्रकृतियो का और उदीरणा ६३ कर्म-प्रकृतियो की। दसवें मे उदय योग्य ६० कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ। ग्यारहवें मे उदय योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा योग्य ५६ कर्म-प्रकृतिया। बारहवें गुणस्थान मे उदय-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियां और उदीरणा-योग्य ५४ कर्म-प्रकृतियाँ। और उसी गुणस्थान के अन्तिम-समय में उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५२ कर्म-प्रकृतियाँ तथा तेरहवें गुणस्थान मे उदय-योग्य ४२ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ३९ कर्म-प्रकृतियाँ हैं। चौदहवे गुणस्थान मे किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती; क्योंकि उदीरणा के होने मे योग की अपेक्षा है, पर उस गुणस्थान में योग का सर्वथा निरोध ही हो जाता है ॥२४॥

॥ इति ॥

उदीरणाधिकार समाप्तः

आठ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा नहीं होती। वे आठ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं-वेदनीय की दो प्रकृतियाँ (२) आहारक-द्विक (४) स्त्यानर्द्धि-त्रिक (७) और मनुष्य-आयु (८)। चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान अयोगिकेवलिभगवान् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते ॥ २४ ॥

भावार्थ—पहले से छट्ठे पर्यन्त छः गुणस्थानो में उदीरणा योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ, उदय-योग्य कर्म-प्रकृतियो के बराबर ही होती हैं। जैसे—पहले गुणस्थान में उदय योग्य तथा उदीरणा योग्य एक सौ सत्रह कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रकृतियो का उदय तथा उदीरणा होती है। तीसरे गुणस्थान मे उदय और उदीरणा दोनो ही सौ सौ कर्म-प्रकृतियो के होते है। चौथे गुणस्थान मे उदय १०४ कर्म-प्रकृतियो का और उदीरणा भी १०४ कर्म-प्रकृतियो की होती है। पाँचवें गुणस्थान मे ८७ कर्म-प्रकृतियो का उदय और ८७ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा होती है। तथा छट्ठे गुणस्थान में उदय-योग्य भी ८१ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य भी ८१ ही कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवे पर्यन्त सात गुणस्थानो मे उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियो की तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियो की संख्या समान नहीं है। किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-प्रकृतियाँ उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियो से तीन तीन कम होती हैं। इसका कारण यह है कि छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद आहारकद्विक और स्त्यानर्द्धित्रिक—इन पांच प्रकृतियो का ही होता है। परन्तु उदीरणा-विच्छेद उक्त ५ प्रकृतियो के सिवाय वेदनीयद्विक तथा मनुष्य-आयु-इन तीन प्रकृतियो का भी होता है। छट्ठे गुणस्थान से आगे के

सत्ताधिकार ।

पहले सत्ता का लक्षण कहकर अनन्तर प्रत्येक गुणस्थान में सत्ता-योग्य कर्म-प्रकृतियों को दिखाते हैं:—

सत्ता कम्माणठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं ।
संते अडयाल-सयं जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥२५॥
सत्ता कर्मणां स्थितिर्बन्धादिलब्धात्मलाभानाम् ।
सत्यष्टाचत्वारिंशच्छत यावदुपशमं विजिनं द्वितीयतृतीये ॥२५॥

अर्थ—कर्म-योग्य जिन पुद्गलों ने बन्ध या संक्रमणद्वारा अपने स्वरूप को (कर्मत्व को) प्राप्त किया है उन कर्मों के आत्मा के साथ लगे रहने को "सत्ता" समझना चाहिये। सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती है। पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त ग्यारह गुणस्थानों में से, दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता नहीं होती ॥२५॥

भावार्थ—बन्ध के समय जो कर्म-पुद्गल जिस कर्मस्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्म-पुद्गलों का उसी कर्मस्वरूप मे आत्मा से लगा रहना यह कर्मों की "सत्ता" कहाती है। इस प्रकार उन्हीं कर्म-पुद्गलों का प्रथम स्वरूप को कर्म-स्वरूप में बदल, आत्मा से लगा रहना,-यह कह-

नामकर्म, (८) रुक्षस्पर्शनामकर्म—ये आठ स्पर्शनामकर्म। इस तरह उदय-योग्य १२२ कर्म-प्रकृतियों मे बन्धननामकर्म तथा संघातन-नामकर्म के पाच पांच भेदों को मिलाने से और वर्णादिक के सामान्य चार भेदों के स्थान मे उक्त प्रकार से २० भेदों के गिनने से कुल १४८ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ताधिकार मे होती हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या पहिले कर्मग्रन्थ से जान लेनी चाहिये।

जिसने पहले, नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और पीछे से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पाकर उसके बल से तीर्थङ्कर-नामकर्म को भी बाँध लिया है, वह जीव नरक मे जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही, पहिले गुणस्थान मे तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता मानी जाती है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्करनामकर्म को बाँध नहीं सकता, क्योंकि उन दो गुणस्थानो मे शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता जिससे कि तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधा जा सके। इस प्रकार तीर्थङ्करनामकर्म को बाँध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर, दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर नहीं सकता। अतएव कहा गया है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़, १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है॥

पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ११ गुणस्थानों में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़ कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियो की सत्ता कही जाती है, सो योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि किसी भी जीव को एक समय मे दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं

लाती है। प्रथम प्रकार की सत्ता को "बन्ध-सत्ता" के नाम से और दूसरे प्रकार की सत्ता को "संक्रमण-सत्ता" के नाम से पहचानना चाहिये।

सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। उदयाधिकार में पाँच बंधनो और ५ संघातनो की विवक्षा जुदी नहीं की है, किन्तु उन दसो कर्म-प्रकृतियो का समावेश पाँच शरीरनामकर्मों मे किया गया है। तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शनाम कर्म की एक एक प्रकृति ही विवक्षित है। परन्तु इस सत्ता-प्रकरण मे बन्धन तथा संघातननामकर्म के पाँच पाँच भेद शरीरनामकर्म से जुदे गिने गये हैं। तथा वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्शनामकर्म की एक एक प्रकृति के स्थान मे, इस जगह ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्शनाम-कर्म गिने जाते हैं। जैसे—(१) औदारिकबन्धननामकर्म, (२) वैक्रियबन्धननामकर्म, (३) आहारकबन्धननामकर्म, (४) तैजसबन्धननामकर्म और (५) कार्मणबन्धननामकर्म—ये पाँच बन्धननामकर्म। (१) औदारिक-संघातननामकर्म, (२) वैक्रियसंघातननामकर्म, (३) आहारकसंघातननामकर्म, (४) तैजससंघातननामकर्म और (५) कार्मणसंघातननामकर्म, ये पाँच संघातननामकर्म। (१) कृष्णनामकर्म, (२) नीलनामकर्म, (३) लोहितनामकर्म, (४) हारिद्रनामकर्म और (५) शुक्लनामकर्म—ये पाँच वर्णनामकर्म। (१) सुरभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्धनामकर्म ये दो गन्धनामकर्म। (१) तिक्तरसनामकर्म, (२) कटुकरसनामकर्म, (३) कषायरसनामकर्म, (४) अम्लरसनामकर्म, (५) मधुररसनामकर्म—ये पाँच रसनामकर्म। (१) कर्कशस्पर्शनामकर्म (२) मृदुस्पर्शनामकर्म, (३) लघुस्पर्शनामकर्म, (४) गुरुस्पर्शनामकर्म, (५) शीतस्पर्शनामकर्म, (६) उष्णस्पर्शनामकर्म, (७) स्निग्धस्पर्श-

नामकर्म, (८) रूक्षस्पर्शनामकर्म—ये आठ स्पर्शनामकर्म। इस तरह उदय-योग्य १२२ कर्म-प्रकृतियो मे बन्धननामकर्म तथा सघातन-नामकर्म के पाच पांच भेदो को मिलाने से और वर्णादिक के सामान्य चार भेदो के स्थान मे उक्त प्रकार से २० भेदों के गिनने से कुल १४८ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ताधिकार में होती हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या पहिले कर्मग्रन्थ से जान लेनी चाहिये।

जिसने पहले, नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और पीछे से क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व को पाकर उसके बल से तीर्थङ्कर-नामकर्म को भी बॉध लिया है, वह जीव नरक में जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही, पहिले गुणस्थान मे तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता मानी जाती है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्करनामकर्म को बॉध नहीं सकता, क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता जिससे कि तीर्थङ्कर-नामकर्म बॉधा जा सके। इस प्रकार तीर्थङ्करनामकर्म को बॉध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर, दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर नहीं सकता। अतएव कहा गया है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़, १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है॥

पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ११ गुणस्थानों मे से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़ कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियो की सत्ता कही जाती है, सो योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योकि किसी भी जीव को एक समय मे दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं

सकती, परन्तु योग्यता सब कर्मों की हो सकती है जिससे सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है उसका भी बन्ध और सत्ता हो सके। इस प्रकार की योग्यता को सम्भव-सत्ता कहते हैं और वर्तमान कर्म की सत्ता को स्वरूप-सत्ता ॥२५॥

चतुर्थ—आदि गुणस्थानो मे प्रकारान्तर से भी सत्ता का वर्णन करते हैं:—

अपुव्वाइ-चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियाल सय।
संमाइ चउसु सत्तग-खयंमि इगचत्त-सयमहवा ॥२६॥

अपूर्वादिचतुष्केऽनतिर्यग्निरयायुर्विना द्वाचत्वारिंशच्छतम्।
सम्यगादिचतुर्षु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमथवा ॥२६॥

अर्थ—१४८ कर्मप्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क तथा नरक और तिर्यञ्चआयु—इन छः के सिवा शेष १४२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानपर्यन्त चार गुणस्थानों मे होती है। तथा अनन्तानुबन्धिचतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियो का क्षय हो जाने पर शेष १४१ कर्म-प्रकृतियो की सत्ता चौथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों मे हो सकती है ॥२६॥

भावार्थ—पञ्चसग्रह का सिद्धान्त है कि "जो जीव अनन्ता-नुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता वह उपशम-श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता"। तथा यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि "नरक की या तिर्यञ्च की आयु को बाँध कर जीव उपशम-श्रेणि को नहीं कर सकता"। इन दो सिद्धान्तों के अनु-

सार १४२ कर्म-प्रकृतियो की सत्ता का पक्ष माना जाता है; क्यों कि जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना कर और देव-आयु को बॉध कर उपशम-श्रेणि को करता है उस जीव को अष्टम आदि ४ गुणस्थानो मे १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है। विसंयोजना, क्षय को ही कहते हैं, परन्तु क्षय और विसंयोजना में इतना ही अन्तर है कि क्षय मे नष्टकर्म का फिर से सम्भव नहीं होता और विसंयोजना मे होता है।

चौथे से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानो मे वर्तमान जो जीव, क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं—अर्थात् जिन्होने अनन्तानुबन्धि-कषाय-चतुष्क और दर्शन त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियो का क्षय किया है, उनकी अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानो में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है। क्षायिक-सम्यकत्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं—अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते हैं किन्तु जिनको मोक्ष के लिये जन्मान्तर लेना बाकी है—उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिये; क्योंकि जो चरम शरीरी क्षायिक-सम्यकत्वी हैं उनको मनुष्य-आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूपसत्ता है और न सम्भव-सत्ता ॥२६॥

अब क्षपक जीव की अपेक्षा से सत्ता का वर्णन करते है।

खवगंतु पप्प चउसुवि पणयाल नरयतिरिसुराउविणा।
सत्तगविणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥२६॥

क्षपकं तु प्राप्य चतुर्ष्वपि पञ्चचत्वारिंशन्नरकतिर्यक्सुरायुर्विना
सप्तक विनाष्टात्रिंशद्यावदनिवृत्तिप्रथमभाग. ॥२७॥

अर्थ—जो जीव क्षपक (क्षपकश्रेणि कर उसी जन्म मे मोक्ष पानेवाला) है उसकी अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थनो में १४५ कर्म-प्रकृतियां की सत्ता पायी जाती है; क्योंकि उस क्षपक जीव को—अर्थात् चरमशरीरी जीव को—नरक-आयु, तिर्यञ्च-आयु और देव-आयु—इन तीन कर्म-प्रकृतिया की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव सत्ता। जो जीव क्षायिकसम्यकत्वी होकर क्षपक है, उसकी अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर नववें गुणस्थान के प्रथम भाग-पर्यन्त उक्त तीन आयु, अनन्तानुवन्धि-कषायचतुष्क और दर्शन-त्रिक--इन दस को छोड़कर १४८ मे से शेष १३८ कर्म-प्रकृतियो की सत्ता पायी जाती है ॥२७॥

भावार्थ—जो जीव, वर्तमान-जन्म मे ही क्षपक-श्रेणि कर सकते है, वे क्षपक या चरम-शरीर कहाते हैं। उनको मनुष्य आयु ही सत्ता में रहती है दूसरी आयु नहीं। इस तरह उनको आगे भी दूसरी आयु की सत्ता होने की सम्भावना नहीं है। इसलिये उन क्षपक जीवो को मनुष्य-आयु के सिवा अन्य आयुओं को न स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव सत्ता। इसी अपेक्षा से क्षपक जीवों को १४५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है। परन्तु क्षपक-जीवो मे जो क्षायिक-सम्यकत्वी हैं उनको अनन्तानुवन्धि-आदि सात कर्म-प्रकृतियो का भी क्षय हो जाता है। इसीलिये क्षायिक-सम्यकत्वी क्षपक-जीवो को १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है। जो जीव, वर्तमान-जन्म मे क्षपकश्रेणि नहीं कर सकते, वे अचरम-शरीरी कहाते हैं। उनमे कुछ क्षायिक-सम्यकत्वी भी होते हैं और कुछ औपशमिकसम्यकत्वी तथा कुछ क्षायोपशमिक-सम्यकत्वी। २५ वीं गाथा में १४८

कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही हुई है; सो क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी तथा औपशमिक-सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से। और जो २६ वीं गाथा मे १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है, सो क्षायिक-सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का सम्भव रहता ही है, इसीलिये उसको सब आयुओं की सत्ता मानी गई है॥ २७॥

अब क्षपकश्रेणिवाले जीव की अपेक्षा से ही नववें आदि गुणस्थानों में कर्म-प्रकृतियों की सत्ता दिखाई जाती है—

थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगल साहारम्।
सोलखओ दुवीससय बियंसि बियतियकसायंतो॥ २८॥
स्थावरतिर्यग्निरयातपद्विकस्त्यानर्द्धित्रिकैकविकलसाधारम्।
षोडशक्षयो द्वाविंशतिशतं द्वितीयांशे द्वितीयतृतीयकषायान्त.॥

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहियसय कमसो।
नपुइत्थिहासछगपुसतुरियकोहमयमायखओ॥ २९॥
तृतीयादिषु चतुर्दशत्रयोदशद्वादशषट्पञ्चचतुस्त्र्यधिकशतं क्रमशः। नपुंसकस्त्रीहास्यषट्कपुंस्तुर्यक्रोधमदमायाक्षयः॥२९॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो॥ ३०॥
सूक्ष्मे द्विशतं लोभान्तः क्षीणद्विचरम एकशतं द्विनिद्राक्षयः।
नवनवतिश्चरम-समये चतुर्दर्शनज्ञानविघ्नान्तः॥ ३०॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ गंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायपण निमिणं॥ ३१॥

पञ्चाशीतिस्सयोगिन्ययोगिनि द्विचरमे देवखगतिगन्धद्विकम् ।
स्पर्शाष्टक-वर्णरसबंधनसंघातनपञ्चकनिर्माणम् ॥ ३१ ॥

संघयणअथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं ।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥ ३२ ॥
संहननास्थिरसंस्थानषट्कागुरुलघुचतुष्कापर्याप्तम् ।
सातं वाऽसातं वा प्रत्येकोपाङ्गत्रिकसुस्वरनीचम् ॥ ३२ ॥

बिसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-जसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्चप णिंदिय-सायासाएगयरछेओ ॥ ३३ ॥
द्वासप्ततिक्षयश्च चरमे त्रयोदश मनुजत्रसत्रिकयशआदेयम् ।
सुभगजिनोच्चपञ्चेन्द्रिय-सातासातैकतरच्छेदः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नववें गुणस्थान के नव भागों मे से पहिले भाग में १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पूर्व गाथा में कही हुई है । उनमें से स्थावर-द्विक (स्थावर और सूक्ष्मनामकर्म) २, तिर्यञ्च-द्विक (तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्च-आनुपूर्वीनामकर्म) ४, नरकद्विक-(नरकगति और नरक आनुपूर्वी) ६, आतपद्विक (आतपनाम-कर्म और उद्योतनामकर्म) ८, स्त्यानर्द्धि-त्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि) ११, एकेन्द्रियजातिनामकर्म १२, विकलेन्द्रिय-(द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म) १५ और साधारणनामकर्म १६—इन सोलह कर्म-प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाता है; इससे दूसरे भाग में १२२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है । तथा १२२ में से अप्रत्याख्यानावरणकपाय-चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण-कपाय चतुष्क—इन आठ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है ॥ २८ ॥

अतएव, तीसरे भाग में ११४ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। तीसरे भाग के अन्तिम समय मे नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से, चौथे भाग मे ११३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस प्रकार चौथे भाग के अन्तिम समय मे स्त्रीवेद का अभाव होने से पाँचवें भाग मे ११२, पॉचवें भाग के अन्तिम-समय में हास्य-षट्क का क्षय होने से छठे भाग में १०६, छठे भाग के चरम समय में पुरुष-वेद का अभाव हो जाता है इससे सातवें भाग में १०५, सातवें भाग के अन्तिम समय मे संज्वलनक्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०४ और आठवें भाग के अन्तिम-समय मे संज्वलनमान का अभाव होने से नववें भाग में १०३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। तथा नववें गुणस्थान के नवम भाग के अन्तिम समय मे सञ्ज्वलन माया का क्षय हो जाता है॥ २६॥

अतएव, दसवें गुणस्थान मे १०२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दसवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में लोभ का अभाव होता है, इससे बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त १०१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है। द्विचरम-समय में निद्रा और प्रचला—इन २ कर्म प्रकृतियो का क्षय हो जाता है जिससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में ६६ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ता-गत रहती हैं। इन ६६ मे से ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय और ४ दर्शनावरण—इन १४ कर्म-प्रकृतियो का क्षय बारहवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाता है॥ ३०॥

अतएव तेरहवें गुणस्थान में और चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय पर्यन्त ८५ कर्म प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है।

द्विचरम-समय में ७२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का अभाव हो जाता है। वे ७२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—देव द्विक २, खगति-द्विक ४, गन्ध-द्विक (सुरभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्धनामकर्म) ६, स्पर्शाष्टक-(कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्षस्पर्शनामकर्म) १४, वर्णपञ्चक-(कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्लवर्णनामकर्म) १६, रसपञ्चक-(कटुक, तिक्त, कषाय, अम्ल और मधुररसनामकर्म) २४, पाँच शरीर नामकर्म २६, बन्धन-पञ्चक-(औदारिक-बन्धन, वैक्रिय-बन्धन, आहारक-बन्धन, तैजस-बन्धन और कार्मण-बन्धननामकर्म) ३४, संघातन पञ्चक (औदारिक-संघातन, वैक्रिय संघातन, आहारक संघातन, तैजस-सघातन और कार्मणसंघातन नामकर्म) ३६, निर्माणनाम-कर्म ४० ॥ ३१ ॥

संहनन-षट्क-(वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्तसंहनन नामकर्म) ४६, अस्थि-रषट्क-(अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयश.-कीर्ति-नामकर्म) ५२, संस्थान-षट्क-(समचतुरस्र, न्यग्रोधपरि-मंडल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डसंस्थाननामकर्म) ५८, अगुरुलघु चतुष्क ६२, अपर्याप्तनामकर्म ६३, सातवेदनीय या असातवेदनीय ६४, प्रत्येकत्रिक (प्रत्येक, स्थिर और शुभनामकर्म) ६७, उपाङ्ग-त्रिक-(औदारिक-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग और आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) ७०, सुस्वरनामकर्म ७१ और नीचगोत्र ७२ ॥३२॥

उपर्युक्त ७२ कर्म प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय मे हो जाता है जिससे अन्तिम समय मे १३ कर्म-

प्रकृतियों की सत्ता रहती है। वे तेरह कर्म-प्रकृतियां ये हैं—मनुष्य त्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी और मनुष्यआयु) ३, त्रस-त्रिक-(त्रस, बादर और पर्याप्तनामकर्म) ६, यशःकीर्तिनामकर्म ७, आदेयनामकर्म ८, सुभगनामकर्म ९, तीर्थङ्करनामकर्म १० उच्चगोत्र ११, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म १२ और सातवेदनीय या असातवेदनीय में से कोई एक १३। इन तेरह कर्म-प्रकृतियो का अभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त बन जाता है ॥३३॥

मतान्तर और उपसंहार

नरअणुपुव्वि विणा वा बारस चरिमसमयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ॥ ३४ ॥
नरानुपूर्वी विना वा द्वादश चरम समये यः क्षपयित्वा।
प्राप्तस्सिद्धिं देवेन्द्रवन्दित नमत तं वीरम ॥ ३४ ॥

अर्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह कर्म-प्रकृतियों में से मनुष्य-आनुपूर्वी को छोड़कर शेष १२ कर्म-प्रकृतियों को चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे क्षीणकर जो मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, और देवेन्द्रो ने तथा देवेन्द्रसूरि ने जिनका वन्दन (स्तुति तथा प्रणाम) किया है, ऐसे परमात्मा महावीर को तुम सब लोग नमन करो ॥ ३४ ॥

भावार्थ—किन्हीं आचार्यों का ऐसा भी मत है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे मनुष्य-त्रिक आदि पूर्वोक्त १३ कर्म-प्रकृतियो मे से, मनुष्य-आनुपूर्वी के विना शेष १२ कर्म-

प्रकृतियों की ही सत्ता रहती है। क्योंकि देव-द्विक आदि पूर्वोक्त ७२ कर्म-प्रकृतियाँ, जिनका कि उदय नहीं है वे जिस प्रकार द्विचरम समय मे स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयवती कर्म-प्रकृतियो मे संक्रान्त होकर, क्षीण हो जाती है इसी प्रकार उदय न होने के कारण मनुष्यआनुपूर्वी भी द्विचरम-समय मे ही स्तिबुकसंक्रम-द्वारा उदयवती कर्म-प्रकृतियो मे संक्रान्त हो जाती है। इसलिये द्विचरम-समय मे उदयवती कर्म-प्रकृति में संक्रान्त पूर्वोक्त देव-द्विक आदि ७२ कर्म-प्रकृतियो की सत्ता चरम-समय मे जैसे नहीं मानी जाती है वैसे ही द्विचरम-समय मे उदयवती कर्म-प्रकृति मे संक्रान्त मनुष्य-आनुपूर्वी की सत्ता को भी चरम-समय में न मानना ठीक है।

(अनुदयवती कर्म-प्रकृति के दलिको को सजातीय और तुल्यस्थितिवाली उदयवती कर्म-प्रकृति के रूप मे बदलकर उसके दलिको के साथ भोग लेना इसे "स्तिबुकसंक्रम" कहते हैं)

इस "कर्मस्तव" नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के रचयिता श्रीदेवेन्द्र-सूरि हैं। ये देवेन्द्रसूरि, तपागच्छाचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे ॥३४॥

सत्ताधिकारः समाप्तः

इति कर्मस्तव-नामक दूसरा कर्मग्रन्थ।

(१) बन्ध-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम.	भाग	मूल-प्रकृतियाँ.	उत्तर-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीय.	मोहनीय.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.
	ओघ से.		८	१२०	५	९	२	२६	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में		८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
२	सास्वादन में.		८	१०१	५	९	२	२४	३	५१	२	५
३	मिश्र में.		७	७४	५	६	२	१९	०	३६	१	५
४	अविरत में.		८	७७	५	६	२	१९	२	३७	१	५
५	देशविरत में.		८	६७	५	६	२	१५	१	३२	१	५
६	प्रमत्त में.		८	६३	५	६	२	११	१	३२	१	५
७	अप्रमत्त में.		८/७	५९/५८	५	६	१	९	१/०	३१	१	५
८	अपूर्वकरणगुणस्थान में.	१	७	५८	५	६	१	९	०	३१	१	५
		२	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		३	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		४	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		५	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		६	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		७	७	२६	५	४	१	९	०	१	१	५
९	अनिवृत्ति गु० में.	१	७	२२	५	४	१	५	०	१	१	५
		२	७	२१	५	४	१	४	०	१	१	५
		३	७	२०	५	४	१	३	०	१	१	५
		४	७	१९	५	४	१	२	०	१	१	५
		५	७	१८	५	४	१	१	०	१	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.		६	१७	५	४	१	०	०	१	१	५
११	उपशान्तमोह में.		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०
१२	क्षीणमोह में.		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०
१३	सयोगि गु० में.		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०
१४	अयोगि गु० में.		०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

(२) उदय-यन्त्र

गुणस्थानों के नाम.	मूल-प्रकृतियाँ.	उत्तर-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीय.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तराय
ओघ से.	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५
मिथ्यात्व में.	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
सास्वादन में.	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५
मिश्र में.	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५
अविरत मे.	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५
देशविरत में.	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५
प्रमत्त में.	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५
अप्रमत्त में.	८	७६	५	९	२	१४	१	४२	१	[illegible]
अपूर्वकरण मे.	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५
अनिवृत्ति मे	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५
सूक्ष्मसम्पराय में.	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५
उपशान्तमोह में.	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५
क्षीणमोह में.	७	५७/५५	५	६/४	२	०	१	३७	१	५
सयोगिकेवली में.	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०
अयोगिकेवली मे.	४	१२	०	०	२	०	१	९	१	०

(३) उदीरणा-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम.	मूल-प्रकृतियाँ.	उत्तर-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.
०	ओघ से.	८	१२२	५	६	२	२८	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में.	८	११७	५	६	२	२६	४	६४	२	५
२	सास्वादन में.	८	१११	५	६	२	२५	४	५९	२	५
३	मिश्र में.	८	१००	५	६	२	२२	४	५१	२	५
४	अविरत में.	८	१०४	५	६	२	२२	४	५५	२	५
५	देशविरत में	८	८७	५	६	२	१८	२	४४	२	५
६	प्रमत्त में.	८	८१	५	६	२	१४	१	४४	१	५
७	अप्रमत्त में.	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	१	५
८	अपूर्वकरण में.	६	६९	५	६	०	१३	०	३९	१	५
९	अनिवृत्तिबादर में	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५
११	उपशान्तमोह में.	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५
१२	क्षीणमोह में	५	५४/५२	५	६/४	०	०	०	३७	१	५
१३	सयोगिकेवली	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०
१४	अयोगिकेवली में	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

(४) सत्तायन्त्र

	गुणस्थान	मूलप्रकृति	उत्तरप्रकृति	उपशम श्रेणी	क्षपक श्रेणी	ज्ञानाव०	दर्शना०	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय
०	ओघ से	८	१४८	०	०	५	९	२	२८	४	९३	२	५
१	मिथ्यात्व में	८	१४८	०	०	५	९	२	२८	४	९३	२	५
२	सास्वादन में	८	१४७	०	०	५	९	२	२८	४	९२	२	५
३	मिश्र में	८	१४७	०	०	५	९	२	२८	४	९२	२	५
४	अविरत में	८	१४८	१४१	१४५ / १४८	५	९	२	२८ / २१	४ / १	९३	२	५
५	देशविरत में	८	१४८	१४१	१४५ / १४८	५	९	२	२८ / २१	४ / १	९३	२	५
६	प्रमत्त में	८	१४८	१४१	१४५ / १४८	५	९	२	२८ / २१	४ / १	९३	२	५
७	अप्रमत्त में	८	१४८	१४१	१४५ / १४८	५	९	२	२८ / २१	४ / १	९३	२	५
८	अपूर्वकरणमें	८	१४८ / १४२	१३९	१३८	५	९	२	२८ / २४ / २१	४ / २ / १	९३	२	५
९	१	८	१४८ / १४२	१३९	१३८	५	९	२	२८ / २४ / २१	४ / २ / १	९३	२	५
	२	८	१४८ / १४२	१३६	१२२	५	६	२	२८ / २४ / २१	४ / २ / १	९३ / ८०	२	५

(५) १४८ उत्तरप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका गुणस्थान-दर्शक यन्त्र

नंबर	क्रमसे १४८ उत्तरप्रकृतियों के नाम	बन्धयोग्य गुणस्थान	उदययोग्य गुणस्थान	उदीरणायोग्य गुणस्थान	सत्तायोग्य गुणस्थान
	ज्ञानावरणीय—५				
१	मतिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
२	श्रुतज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
३	अवधिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
४	मनःपर्यवज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
५	केवलज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
	दर्शनावरणीय—६				
६	चक्षुर्दर्शनावरणीय	१०	१२	१२	१२
७	अचक्षुर्दर्शना०	१०	१२	१२	१२
८	अवधिदर्शना०	१०	१२	१२	१२
६	केवलदर्शना०	१०	१२	१२	१२
१०	निद्रा	* ७ १/७	१ समय न्यून–१२	१२	१ समय न्यून–१२
११	निद्रानिद्रा	२	६	६	८ १/२
१२	प्रचला	७ १/७	१ समय न्यून–१२	१२	१ समय न्यून–१२
१३	प्रचलाप्रचला	२	६	६	८ १/२
१४	स्त्यानर्द्धि	२	६	६	८ १/२

* इस में ७ को पूरा अङ्क और १/७ को एक सप्तमांश, अर्थात ७ गुणस्थान और आठवें के सात हिस्सों में से एक हिस्सा समझना। इस

	वेदनीयकर्म-२				
१५	सातवेदनीय	१३	१४	६	१४
१६	असातवेदनीय	६	१४	६	१४
	मोहनीयकर्म-२८				
१७	सम्यक्त्वमोहनीय	०	चौथेसे सात तक-४	चौथेसे सात तक-४	११
१८	मिश्रमोहनीय	०	तीसरा-१	तीसरा-१	११
१९	मिथ्यात्वमोहनीय	१	१	१	११
२०	अनन्तानुबन्धिक्रोध	२	२	२	११
२१	अनन्तानुबन्धिमान	२	२	२	११
२२	अनन्तानुबन्धिमाया	२	२	२	११
२३	अनन्तानुबन्धिलोभ	२	२	२	११
२४	अप्रत्याख्यानावरणक्रो०	४	४	४	८
२५	अप्रत्याख्यानावरणमान	४	४	४	८
२६	अप्रत्याख्यानावरणमाया	४	४	४	८
२७	अप्रत्याख्यानावरणलोभ	४	४	४	८
२८	प्रत्याख्यानावरणक्रोध	५	५	५	८
२९	,, मान	५	५	५	८
३०	,, माया	५	५	५	८
३१	,, लोभ	५	५	५	८
३२	संज्वलन-क्रोध	८	९	९	८
३३	,, मान	८	९	९	८
३४	,, माया	८	९	९	९
३५	,, लोभ	९	१०	१०	१०
३६	हास्य-मोहनीय	८	८	८	८
३७	रति ,,	८	८	८	८
३८	अरति ,,	६	८	८	८
३९	शोक ,,	६	८	८	८
४०	भय ,,	८	८	८	८

४१	जुगुप्सा ,,	८	८	८	८ $\frac{५}{९}$
४२	पुरुषवेद	८ $\frac{२}{५}$	९	९	८ $\frac{[illegible]}{९}$
४३	स्त्रीवेद	२	९	९	८ $\frac{४}{९}$
४४	नपुंसकवेद	१	९	९	८ $\frac{[illegible]}{९}$
	* आयु-कर्म—४				
४५	देवआयु	७	४	४	११
४६	मनुष्यआयु	४	१४	६	१४
४७	तिर्यंचआयु	२	५	५	७
४८	नरकआयु	१	४	४	७
	नाम-कर्म—६३				
४९	मनुष्यगति-नामकर्म	४	१४	१३	१४
५०	तिर्यञ्चगति ,,	२	५	५	८ $\frac{१}{९}$
५१	देवगति ,,	७ $\frac{६}{७}$	४	४	१४
५२	नरकगति ,,	१	४	४	८ $\frac{[illegible]}{९}$
५३	एकेन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ $\frac{१}{९}$
५४	द्वीन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ $\frac{१}{९}$
५५	त्रीन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ $\frac{१}{९}$
	चतुरिन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ $\frac{[illegible]}{९}$
	पञ्चेन्द्रियजाति ,,	७ $\frac{६}{७}$	१४	१३	१४
	औदारिकशरीर ,,	४	१३	१३	१४
	वैक्रिय ,, ,,	७ $\frac{६}{७}$	४	४	१४
	आहारक ,, ,,	सातसे आठ के ६ भाग	छट्ठा	छट्ठा	१४
	तैजस ,, ,,	७ $\frac{६}{७}$	१३	१३	१४
	कार्मण ,, ,,	७ $\frac{६}{७}$	१३	१३	१४
	औदारिकअङ्गोपाङ्ग ,,	४	१३	१३	१४

* आयुकर्म का तीसरे गुणस्थान में बन्ध नहीं होता, इससे तीसरे
अन्य गुणस्थानों को उसके बन्ध-योग्य ...

६४	वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म	७$\frac{६}{७}$	४	४	१४
६५	आहारक ,, ,,	सातसे आठ के ६ भाग	छठा	छठा	१४
६६	औदारिकबंधन ,,	०	०	०	१४
६७	वैक्रिय ,, ,,	०	०	०	१४
६८	आहारक ,, ,,	०	०	०	१४
६९	तैजस ,, ,,	०	०	०	१४
७०	कार्मण ,, ,,	०	०	०	१४
७१	औदारिकसंघातन ,,	०	०	०	१४
७२	वैक्रिय ,, ,,	०	०	०	१४
७३	आहारक ,, ,,	०	०	०	१४
७४	तैजस ,, ,,	०	०	०	१४
७५	कार्मण ,, ,,	०	०	०	१४
७६	वज्रऋषभनाराचसंह०	४	१३	१३	१४
७७	ऋषभनाराच ,, ,,	२	११	११	१४
७८	नाराच ,, ,,	२	११	११	१४
७९	अर्धनाराच ,, ,,	२	७	७	१४
८०	कीलिका ,, ,,	२	७	७	१४
८१	सेवार्त ,, ,,	१	७	७	१४
८२	समचतुरस्रसंस्थान	७$\frac{४}{७}$	१३	१३	१४
८३	न्यग्रोध० ,,	२	१३	१३	१४
८४	सादि ,,	२	,,	,,	,,
८५	वामन ,,	२	,,	,,	,,
८६	कुब्ज ,,	२	,,	,,	,,
८७	हुंडक ,,	१	,,	,,	,,
८८	कृष्णवर्ण-नामकर्म	७$\frac{६}{७}$	,,	,,	,,
८९	नीलवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९०	लोहितवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९१	हारिद्रवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९२	शुक्लवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९३	सुरभिगन्ध ,,	,,	,,	,,	,,

९४	दुरभिगन्ध	नामकर्म	७	१३	१३	१४
९५	तिक्तरस	,,	,,	,,	,,	,,
९६	कटुकरस	,,	,,	,,	,,	,,
९७	कषायरस	,,	,,	,,	,,	,,
९८	अम्लरस	,,	,,	,,	,,	,,
९९	मधुररस	,,	,,	,,	,,	,,
१००	कर्कशस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०१	मृदुस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०२	गुरुस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०३	लघुस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०४	शीतस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०५	उष्णस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०६	स्निग्धस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०७	रुक्षस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०८	नरकानुपूर्वी	,,	१	१,४-२	१,४-२	८	
१०९	तिर्यञ्चानुपूर्वी	,,	२	१,२,४-३	१,२,४ ३	८	
११०	मनुष्यानुपूर्वी	,,	४	१,२,४-३	१,२,४ ३	१४	
१११	देवानुपूर्वी	,,	७	१,२,४-३	१,२,४-३	१४	
११२	शुभविहायोगति	,,	७	१३	१३	१४	
११३	अशुभविहायोगति	,,	२	१३	१३	१४	
११४	पराघात	,,	७	१३	१३	१४	
११५	उच्छ्वास	,,	७	१३	१३	१४	
११६	आतप	,,	१	१	१	८	
११७	उद्योत	,,	२	५	५	८	
११८	अगुरुलघु	,,	७	१३	१३	१४	
११९	तीर्थङ्कर	,,	चौथा से आठवें के ६ भाग तक	१३, १४-२	तेरहवाँ	दू.ती० छोड़- १२	
	निर्माण	,,	७	१३	१३	१४	
	उपघात	,,	७	१३	१३	१४	
	त्रस	,,	७	१४	१३	१४	
	बादर	,,	७	१४	१३	१४	

१२४	पर्याप्त	,,	$७\frac{१}{७}$	१४	१३	१४
१२५	प्रत्येक	,,	$७\frac{१}{७}$	१३	१३	१४
१२६	स्थिर	,,	$७\frac{१}{७}$	१३	१३	१४
१२७	शुभ	,,	$७\frac{१}{७}$	१३	१३	१४
१२८	सुभग	,,	$७\frac{१}{७}$	१४	१३	१४
१२९	सुस्वर	,,	$७\frac{१}{७}$	१३	१३	१४
१३०	आदेय	,,	$७\frac{१}{७}$	१४	१३	१४
१३१	यश:कीर्त्ति	,,	१०	१४	१३	१४
१३२	स्थावर	,,	१	२	२	$८\frac{१}{२}$
१३३	सूक्ष्म	,,	१	१	१	$८\frac{१}{२}$
१३४	अपर्याप्त	,,	१	१	१	१४
१३५	साधारण	,,	१	१	१	$८\frac{१}{९}$
१३६	अस्थिर	,,	६	१३	१३	१४
१३७	अशुभ	,,	६	१३	१३	१४
१३८	दुर्भग	,,	२	४	४	१४
१३९	दु:स्वर	,,	२	१३	१३	१४
१४०	अनादेय	,,	२	४	४	१४
१४१	अयश कीर्त्ति	,,	६	४	४	१४
	गोत्र-कर्म—२					
१४२	उच्चैर्गोत्र		१०	१४	१३	१४
१४३	नीचगोत्र		२	५	५	१४
	अन्तरायकर्म—५					
१४४	दानान्तराय		१०	१२	१२	१२
१४५	लाभान्तराय		१०	१२	१२	१२
१४६	भोगान्तराय		१०	१२	१२	१२
१४७	उपभोगान्तराय		१०	१२	१२	१२
१४८	वीर्यान्तराय		१०	१२	१२	१२

परिशिष्ट ।

'गुणस्थान' शब्द का समानार्थक दूसरा शब्द श्वेताम्बर शास्त्र में देखने में नहीं आता; परन्तु दिगम्बर-साहित्य में उसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं; जैसे:—संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास। गोम्मटसार जी० गा० ३ – १०।

"ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप गुणस्थान हैं।" गुणस्थान की यह व्याख्या श्वेताम्बर ग्रंथों में देखी जाती है। दिगम्बर-ग्रंथों में उसकी व्याख्या इस प्रकार है—"दर्शन मोहनीय और चरित्रमोहनीय की उदय आदि अवस्थाओं के समय, जो भाव होते हैं उनसे जीवों का स्वरूप जाना जाता है; इस लिये वे भाव, गुणस्थान कहाते हैं।" गो० जी० गा० ८।

सातवें आदि गुणस्थानों में वेदनीयकर्म की उदीरणा नहीं होती, इससे उन गुणस्थानों में आहारसंज्ञा को गोम्मटसार (जीवकाण्ड गा० १३८) में नहीं माना है। परन्तु उक्त गुणस्थानों में उस संज्ञा का स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन गुणस्थानों में असातवेदनीय के उदय आदि अन्य कारणों का सम्भव है।

देशविरति के ११ भेद गोम्मटसार (जी० गा० ४७६) में हैं; जैसे.—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोपध (५) सचित्तविरति, (६) रात्रिभोजन-विरति, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भविरति, (९) परिग्रहविरति, (१०) अनुमतिविरति, और (११) उद्दिष्टविरति। इसमें 'प्रोपध' शब्द श्वेताम्बरसम्प्रदाय-प्रसिद्ध 'पौपध' शब्द के स्थान में है।

गुणस्थान के क्रम से जीवों के पुण्य, पाप दो भेद हैं। मिथ्यात्वी या मिथ्यात्वोन्मुख जीवों को पाप जीव और सम्यक्त्वी जीवों को पुण्यजीव कहा है। गो० जी० गा० ६२१।

उदयाधिकार में प्रत्येक गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की जो जो संख्या कही हुई है, वह सब गोम्मटसार में उल्लिखित भूतबलि आचार्य के मत के साथ मिलती है। परन्तु उसी ग्रन्थ (कर्म० गा० २६३-२६४) में जो यतिवृषभाचार्य के मत का उल्लेख किया है उसके साथ कहीं कहीं नहीं मिलती। पहले गुणस्थान में यतिवृषभाचार्य ११२ प्रकृतियों का उदय और चौदहवें गुणस्थान में १३ प्रकृतियों का उदय मानते हैं। परन्तु कर्मग्रन्थ में पहिले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और चौदहवें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय माना है।

कर्मग्रन्थ में दूसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी हुई है, परन्तु गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में आहारकद्विक और तीर्थङ्करनामकर्म, इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ ही की सत्ता उस गुणस्थान में मानी है। इसी प्रकार गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-३३३ से ३३६) के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को नरक-आयु की सत्ता नहीं होती और छट्ठे तथा सातवें गुणस्थान में नरक-आयु, तिर्यञ्च-आयु दो की सत्ता नहीं होती; अतएव उस ग्रन्थ में पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छट्ठे, सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी हुई है। परन्तु कर्मग्रन्थ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में नरक-आयु की और छट्ठे, सातवें गुणस्थान में नरक, तिर्यञ्च दो आयुओं की सत्ता भी हो सकती है।

शुद्धि पत्रक

प्रस्तावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
२	६	है संसार जी०	है। संसार के जी०
२	११	क्रमसे	क्रमके
२	१९	योग्मता	योग्यता
६	१७	मजग	वण्ण
६	१७	णियमेथ	णियमेण
८	२	अवलम्बिन	अवलंबित
१०	१	दर्शन	दर्शन का
१०	२	अन्तराम	अन्तरात्मा
१०	१४	शक्ति	शक्ति का

दूसरा कर्मग्रन्थ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१	३	थुमिणो	थुणिमो
३	२१	मिथ्यात्व	मिथ्यात्वं
३	२२	निवृत्यनिवृति	निवृत्त्यनिवृत्ति
५	२	प्रतिपात्ति	प्रतियत्ति
८	१३, १४	अन्तःकरण	अन्तरकरण
८	१३	शुद्ध	शुरू
१२	११	अरुचि	अरुचि
१२	१६, २०	रहते	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१६	१२	समय-समयो	समयों
१७	२५	और	और ५
२२	२३	विशेष	विशेष्य
२२	२३	जानता	जनाता
२३	१०	जानता	जनाता
२४	२	जीव का	जीव को
२६	१७	०छद्मस्थणणस्थान	०छद्मस्थगुणस्था
२६	१६	नाम	नाम में
२६	२३	मनोगोग	मनोयोग
३२	१	बन्धवोग्य	बन्धयोग्य
३२	१०	योग से	योग ये
३५	२०	अनादेय	(६) अनादेय
३६	५	द्विज	द्विक
३६	१६	तिरियाण	तिरियीण
३७	५	गद्द्यातेना	उद्द्योतनाम
३७	१६	में	से
३७	२३	६	१६
३९	१७	उनसे में	उनमें। से
४०	१५	औदोरिक	औदारिक
४२	१२	मनुष्यमंध्य	मनुष्यभव
४४	६	अडवम्न	अड्डवन्न
४४	१०	भाग	भागे
४४	१७	वोह्न	चिह्न
४५	१०	(१९), सम	(१६),
४५	११	निर्माणनामक	निर्माण नामकर्म

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४५	१६	भाग	भाग में
४५	२०	नौ	नो
४७	१०	येग	योग्य
४७	१६	इस	इसी
४८	१२	होती	होता
५७	२१	गुणस्थान	गुणस्थान
५८	४	चक्र	चक्र
५८	५	असन्भव	असंभव
५६	२२	निर्यञ्च	तिर्यञ्च
६०	१०	बाद भी	बाद
६०	२२	जाना है	जाता है कि
६१	९	त्रिय	त्रिक
६१	१६	विशुद्धि।	विशुद्ध
६२	२,४	तुरय	तुरिय
६२	१८	संज्वसन	संज्वलन
६५	१	चरिमि	चरमि
६५	१	पपाचन्ना	पणपन्ना
७८	७	अपुव्वाह	अपुव्वाइ
७६	२१	॥ २६ ॥	॥ २७ ॥

मात्रा के उड़ जाने से जो अशुद्धियाँ हुई हैं और पदच्छेद की जो अशुद्धियाँ हैं उन्हें दिया नहीं है।